विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक २ फरवरी २००१ मूल्य रु. ५.००
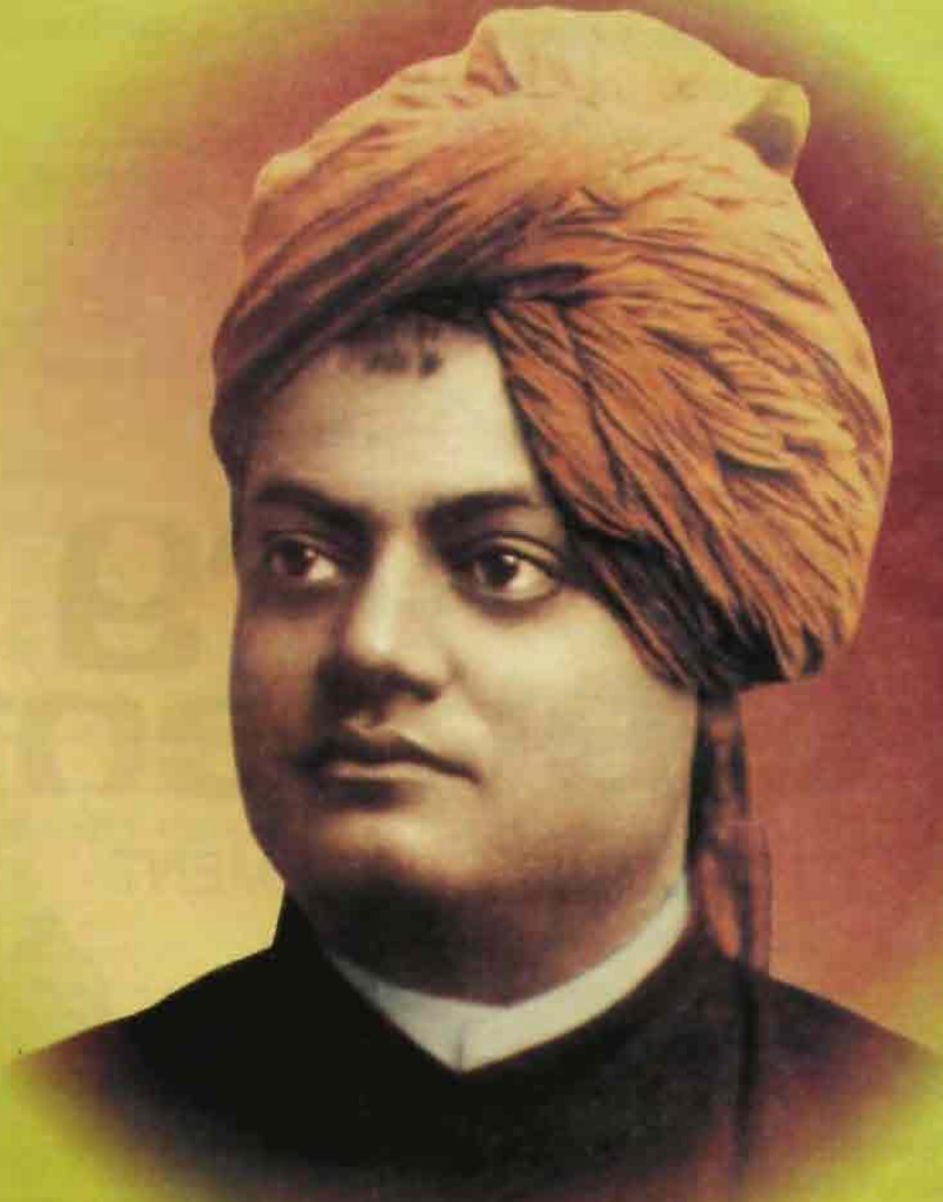
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
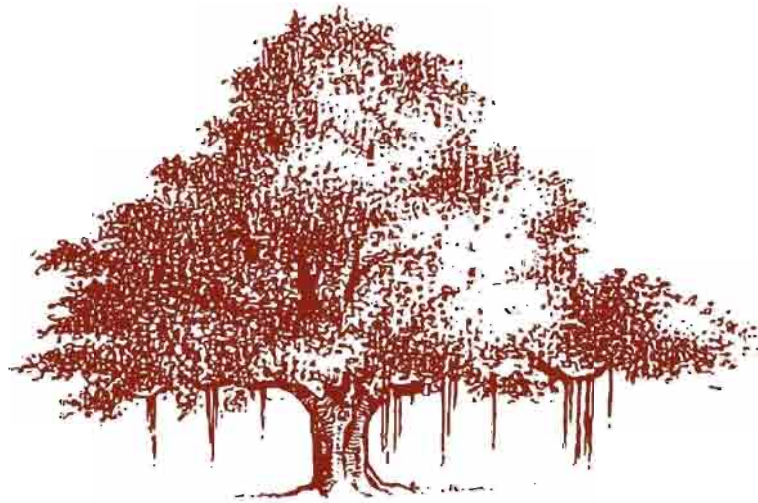
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक २

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छत्तीसगढ़)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धमार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक -कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यन्ति ।।२७।।

अन्वयः – खलु नीचैः विघ्नभयेन न प्रारम्यते, मध्यः प्रारम्य विघ्नविहताः विरमन्ति, उत्तमजनाः विघ्नैः पुनः पुनः (मुहुः मुहुः) प्रतिहन्यामानाः अपि प्रारब्धं न परित्यजन्ति ।

भावार्थ – निश्चय ही निम्न कोटि के लोग विघ्न के भय से कार्य को आरम्भ ही नहीं करते; मध्यम श्रेणी के लोग कार्य आरम्भ करने के बाद बाधाओं से पीड़ित होकर उसे बीच में ही छोड़ देते हैं और उत्तम कोटि के लोग बारम्बार विघ्नों से आहत होकर भी अपने आरम्भ किये हुए कार्य को पूरा किये बिना उसे बीच में नहीं छोड़ते ।

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महताम्,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।।२८।।

अन्वयः – असन्तः न अभ्यर्थ्याः, कृशधनः सुहृत् अपि न याच्यः, प्रिया न्याय्या वृत्तिः (ग्रहणीया), मलिनम् असुभङ्गे अपि असुकरम्, विपदि उच्चैः स्थेयम्, महतां च पदम् अनुविधेयम्, इदं विषमम् असिधाराव्रतं सतां केन उद्दिष्टम्?

भावार्थ – सज्जनों को इस खड्ग की धार पर चलने के समान व्रत का किसने उपदेश दिया है, जिसमें दुर्जनों से याचना नहीं की जा सकती, थोड़े धनवाले मित्र से भी माँगा नहीं जा सकता, प्रिय तथा न्यायपूर्ण आजीविका का आश्रय लिया जाता है, प्राणनाश का भय होने पर भी अनुचित कर्म करना कठिन होता है, विपत्ति में भी ऊँचे रहना पड़ता है और बड़े लोगों के मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है?

– भर्तृहरि

गीति-वन्दना

– १ –

रे मन पंछी तू उड़ता जा ।
श्रीरामकृष्ण का नाम मधुर,
जप करता आगे बढ़ता जा ।।

वे व्याप रहे जल थल सबमें,
है वायुरूप विस्तृत नभ में,
उनकी ही कृपा तरंगों पर,
निज पंख खोलकर बहता जा ।।

ठण्डक होवे या धूप लगे,
निज निष्ठा में रह सतत पगे,
रुकना न कहीं तू मारग में,
रख ध्यान लक्ष्य का चलता जा।।

वन में आसक्त नहीं होना,
जागा है अब फिर मत सोना,
सब फल धरती के नश्वर हैं,
इनसे निज माया तजता जा ।।

– २ –

आओ हम सब मिलकर गायें, रामकृष्ण का मधुमय नाम ।
दीन, दुखी, पीड़ित सब आओ, पाओ शीतलता विश्राम ।।

जग का भार निवारण करने, पीड़ित जन का तारण करने,
हुए अवतरित मर्त्यलोक में, तजकर अपना चिन्मय धाम ।।

दुख अभाव सब दूर करेंगे, अन्तर के सब ताप हरेंगे,
स्वार्थ मोह की माया तजकर, भजन करो नित आठों याम।।

सकल विश्व के त्राता हैं वे, परमारथ के दाता हैं वे,
जो चाहोगे सब पाओगे, पूरण होंगे चारों काम ।।

– *विदेह*

शक्तिदायी विचार (२)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के शक्तिदायी विचार उनकी सम्पूर्ण ग्रन्थावली में बिखरे पड़े हैं । उन्ही से संकलित होकर अंग्रेजी मे Thoughts of Power नाम से एक छोटी सी पुस्तिका निकली है । अनेक भाषाओं में अनूदित होकर वह अत्यन्त लाकप्रिय भी हुई है । प्रस्तुत है उसी का एक नया अविकल अनुवाद । – सं.)

प्रेम और निःस्वार्थता

* निःस्वार्थता अधिक फलदायी होती है, परन्तु लोगों में इसका अभ्यास करने का धैर्य नही होता ।

* अपने हाथ में दो पैसे लिए एक दाता के ऊँचे आसन पर खड़े होकर यह मत कहो, "ऐ भिखारी, ले, यह मैं तुझे देता हूँ ।" बल्कि तुम स्वयं ही इस बात के लिए उसका आभार मानो कि उस निर्धन व्यक्ति के होने के कारण ही उसे दान देकर तुम्हें अपना भला करने का सौभाग्य मिला । धन्य पानेवाला नही, देनेवाला होता है । इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि संसार मे तुम्हें अपनी अच्छाई तथा दयालुता दिखाने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ ।

* निरन्तर दूसरो का भला करने का प्रयास करते हुए हम स्वयं को भूलने का प्रयत्न करते रहते हैं । स्वयं को भूल जाना – यह एक महान् पाठ है, जो हमे इस जीवन मे सीखना है । आदमी मूर्खतावश सोचता है कि वह अपने को सुखी बना सकता है, परन्तु वर्षों के संघर्ष के बाद आखिरकार उसकी समझ में आता है कि सच्चा सुख तो स्वार्थनाश में ही है और आत्मा को छोड़, कोई अन्य उसे सुखी नहीं बना सकता ।

* स्वार्थपरता ही अनैतिक और निःस्वार्थता ही नैतिक है ।

* जान लो कि सम्पूर्ण जीवन देने के लिए ही है । प्रकृति तुम्हें देने को बाध्य करेगी; अतः स्वेच्छापूर्वक दो । इस संसार मे तुम संग्रह करने आते हो । मुट्ठी बाँधकर तुम एकत्र करना चाहते हो, लेकिन प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है । चाहो या न चाहो, पर तुम्हें देना ही पड़ेगा । ज्योंही तुम कहते हो – 'नहीं दूँगा' त्योंही एक घूँसा पड़ता है और तुम्हे चोट लग जाती है । दुनिया में आये हुए प्रत्येक व्यक्ति को अन्त में अपना सर्वस्व दे देना होगा ।

* पवित्र बनना और परोपकार करना – यही समस्त उपासनाओ का सार है । जो निर्धनो, दुर्बलों तथा रोगियों में भी शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची उपासना करता है । और यदि कोई केवल मूर्ति में ही शिव को देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक है ।

* निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है । जिसमें यह निःस्वार्थता अधिक है, वह अधिक आध्यात्मिक तथा शिव के समीपतर है । और यदि कोई स्वार्थी है, तो चाहे उसने संसार के सभी मन्दिरों में दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थ क्यों न गया हो और रंग-भभूत रमाकर उसने अपनी शक्ल चीते जैसी ही क्यों न बना ली हो, वह शिव से दूर है – बहुत दूर ।

* मैं एकमात्र प्रेम की ही शिक्षा देता हूँ और मेरा यह सन्देश विश्वात्मा की एकता तथा सर्वव्यापकता के वेदान्तिक सत्य पर आधारित है ।

* पहले रोटी और तब धर्म चाहिए । बेचारे गरीब भूखों मर रहे हैं और हम उन्हें खूब धर्मोपदेश दे रहे हैं । धर्म-सिद्धान्तों से पेट नहीं भरता । ... तुम लाखों मतों के बारे में बातें कर सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय गठित कर सकते हो, पर जब तक तुम्हारे पास सहानुभूति-शील हृदय नही है, जब तक कि वैदिक उपदेशों के अनुसार तुम्हें ऐसा अनुभव नहीं हो जाता कि वे तुम्हारे अपने ही शरीर के अंश है; जब तक तुम और वे, धनी और दरिद्र, साधु और असाधु सभी ब्रह्म कहलानेवाले उसी एक अनन्त पूर्ण के अंश नहीं हो जाते, तब तक सब व्यर्थ है ।

* दुखियो की पीड़ा को समझो और ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना करो – वह अवश्य आयेगी । मैं बारह वर्ष तक हृदय में यह बोझ तथा मस्तिष्क में यह विचार लिए बहुत-से तथाकथित धनिकों और अमीरों के दर दर घूमा । वेदनापूर्ण हृदय के साथ आधी पृथ्वी को पार करके मैं सहायता माँगने इस अजनबी देश (अमेरिका) में आया । ईश्वर महान् है; मैं जानता हूँ, वह मेरी सहायता करेगा । मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ । परन्तु हे युवको! मैं गरीबों, अशिक्षितों तथा उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति तथा आप्राण प्रयत्न को तुम्हें थाती के तौर पर अर्पित करता हूँ ।

* यह जीवन क्षणकालिक है और संसार के आडम्बर भी क्षणभंगुर हैं; परन्तु वे लोग ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं, बाकी तो जीवित की अपेक्षा मृतक ही अधिक हैं ।

* मैं उस धर्म या ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखता, जो न विधवा के आँसू पोंछ सकता है और न अनाथ के मुख में रोटी का एक टुकड़ा ही पहुँचा सकता है ।

* वत्स, प्रेम कभी निष्फल नहीं होता । आज, कल या युगों बाद सत्य की ही विजय होगी; प्रेम ही जीतेगा । क्या तुम अपने मनुष्य भाइयों से प्रेम करते हो?

* तुम ईश्वर को ढूँढ़ने कहाँ जाओगे? क्या सभी निर्धन, दुखी तथा दुर्बल लोग ईश्वर नहीं हैं? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो?

* प्रेम की शक्तिमत्ता में विश्वास करो। क्या तुममें प्रेम है? तब तो तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम पूर्णत: नि:स्वार्थ हो? तब तो तुम अजेय हो। चरित्र ही सर्वत्र फलदायी है।

* मेरा हृदय भावों से इतना परिपूर्ण है कि मैं उन्हें व्यक्त करने में असमर्थ हूँ; तुम जानते हो और इसकी कल्पना कर सकते हो। जब तक देश के करोड़ों लोग भूखे तथा अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती समझूँगा, जो उन्हीं के खर्च पर शिक्षित होकर भी उनकी ओर ध्यान नहीं देता! जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और ठाट-बाट से अकड़कर चलते हैं, वे यदि करोड़ों भूखे तथा असभ्य देशवासियों के लिए कुछ नहीं करते, तो घृणा के पात्र हैं। मेरे भाइयो, हम लोग गरीब हैं, नगण्य है, परन्तु हम जैसे निर्धन लोग ही हमेशा उस परम पुरुष के यन्त्र बने हैं।

* मुझे मुक्ति या भक्ति की चिन्ता नहीं। **वसन्तवल्लोक-हितं चरन्तः** – मुझे वसन्त की भाँति (चुपचाप) लोगों का हित करते हुए लाखों नरकों में जाना स्वीकार है – यही मेरा धर्म है।

* मैं मृत्यु होने तक सतत कार्य करता रहूँगा और मृत्यु के बाद भी संसार की भलाई के लिए कार्य करता रहूँगा। असत्य की अपेक्षा सत्य अनन्तगुना प्रभावी है और उसी तरह बुराई की अपेक्षा भलाई भी। यदि तुममें ये गुण हैं, तो वे अपने वजन से ही अपना मार्ग बना लेंगे।

* हर तरह का विस्तार ही जीवन है और हर तरह की संकीर्णता ही मृत्यु है। जहाँ प्रेम है, वहीं विस्तार है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं संकीर्णता है। अत: प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है। जो प्रेम करता है, वही जीवित है; जो स्वार्थी है, वह मरणोन्मुख है। अत: प्रेम के निमित्त ही प्रेम करो, क्योंकि यह जीवन का वैसे ही एकमात्र नियम है, जैसे जीने के लिए श्वास। निष्काम प्रेम, निष्काम कर्म आदि का यही रहस्य है।

* दुनिया को प्रकाश कौन देगा? भूतकाल में बलिदान ही नियम रहा है और हाय! युगों तक इसी को रहना है। संसार के वीरों तथा श्रेष्ठ लोगों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम प्रेम तथा दयालुता से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है।

* मेरी इच्छा है कि मैं बार बार जन्म लूँ और हजारों दु:ख भोगता रहूँ; ताकि मैं उस एकमात्र सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है; सबसे बढ़कर, सभी जातियों तथा वर्णों के पापी, तापी और निर्धन रूपी ईश्वर ही मेरे विशेष उपास्य हैं।

* जब हमारा 'अहंबोध' नहीं रहता, तभी हम अपना श्रेष्ठ कार्य कर पाते हैं, दूसरों को सर्वाधिक प्रभावित कर पाते हैं।

* संसार के सभी धर्म प्राणहीन परिहास की वस्तु बन गये हैं। दुनिया को आज जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है चरित्र। संसार को ऐसे लोग चाहिए, जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का निदर्शन हो। वह प्रेम एक एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।

* आत्मप्रतिष्ठा नहीं, आत्मत्याग ही सर्वोच्च लोक का नियम है।

* प्रबल आत्म-बलिदान के साथ ही धर्म आता है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब कुछ दूसरों के लिए करो। इसी को 'ईश्वर में निवास करना, विचरण करना और स्वयं को उनमें प्रतिष्ठित करना' कहते हैं।

ईश्वर और धर्म

* प्रत्येक जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यहीं धर्म का सार-सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्यौरे मात्र हैं।

* यदि ईश्वर हों, तो उनका साक्षात्कार करना होगा; यदि आत्मा नामक कोई चीज हो, तो उसकी अनुभूति करनी होगी। अन्यथा उन पर विश्वास न करना ही अच्छा है। ढोंगी होने की अपेक्षा स्पष्टवादी नास्तिक होना कहीं बेहतर है।

* अभ्यास परम आवश्यक है। तुम रोज घण्टों बैठकर मेरी बात सुन सकते हो, पर अभ्यास के बिना तुम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। सब कुछ साधना पर निर्भर है। प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना ये चीजें हम बिल्कुल भी नहीं समझ सकते। केवल व्याख्या और सिद्धान्त सुनने से काम नहीं चलेगा; हमें स्वयं अनुभव करना होगा।

* एक विचार लो, उसी को अपना जीवन बनाओ – उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो और उसी पर जीयो। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वांग उसी विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है, और इसी उपाय से बड़े बड़े धर्मवीरों की सृष्टि हुई है।

❖ (क्रमशः) ❖
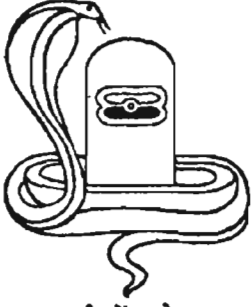
शिवमहिम्नःस्तोत्रम् (२)

स्वामी भूतेशानन्द

(भगवान शिव के समस्त स्तोत्रों में 'शिवमहिम्न' ही सर्वाधिक लोकप्रिय है । फिर शिखरिणी छन्द में होने के कारण यह अत्यन्त गेय भी है । आज इसमें ४० श्लोक मिलते हैं, परन्तु इन्दौर के पास नर्मदा तट पर स्थित अमरेश्वर महादेव के मन्दिर में १०६३ ई. में खुदे हुए इसके प्रारम्भिक ३१ श्लोक ही मिलते हैं । १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ लिखित राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ में इसका पाँचवाँ श्लोक उद्धृत हुआ है, इससे लगता है कि उस काल में ही यह स्तोत्र अत्यन्त प्रचलित हो चुका था । मधुसूदन सरस्वती ने केवल ३२ श्लोकों पर ही टीका की रचना की है । इससे लगता है कि प्रारम्भ में इसमें ३१ श्लोक ही थे और बाद में क्रमश: ९ श्लोक और भी जुड़ गये, जिनमें कुछ तो स्तोत्र की महिमा विषयक ही है । वैसे यह 'पुष्पदन्त' नामक गन्धर्व की रचना मानी जाती है, परन्तु दक्षिण भारत में प्राप्त होनेवाली अनेक प्रतियों में पं. कुमारिल भट्टाचार्य को इसका रचयिता बताया गया है । रामकृष्ण मठ तथा मिशन के बारहवें अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज द्वारा की हुई इसकी व्याख्या बँगला मासिक 'उद्बोधन' के फरवरी-मई १९९८ के अंकों से प्रकाशित हुई थी । वहीं से रामकृष्ण संघ के स्वामी चिरन्तनानन्द जी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है, जिसे हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में क्रमशः मुद्रित करेंगे । – सं.)

विद्वानों द्वारा तुम्हें प्रमाणित करने में असमर्थ होने पर भी मेरी वाचलता ही मेरी लज्जा का हरण करके मुझसे तुम्हारी स्तुति करा रही है । इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करो, क्योंकि मैं तुम्हारी स्तुति किए बिना रह नहीं सकता! मैं तो हीनबुद्धि हूँ, तो भी क्या कोई तुम्हारा ऐश्वर्य समझ सका है? जब ब्रह्मा-विष्णु तक इसमें असमर्थ हैं, तो फिर मैं किस खेत की मूली हूँ! तो भी तुममें भक्ति-श्रद्धा अवश्य फलदायी है –

तवैश्वर्यं यत्नाद् यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनल-स्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ।।१०।।

पुराणों की एक प्रसिद्ध कथा है – अनन्त ज्योतिर्लिंग-रूप तुम्हारे तेजपुंज रूप ऐश्वर्य को मापने के लिए ब्रह्मा ऊपर की तरफ और विष्णु नीचे पाताल की ओर जाकर असफल हो गये थे । अपनी सारी शक्ति लगाकर ब्रह्मा शिवलिंग के ऊपर की ओर एंवं विष्णु नीचे की ओर गये, पर दोनों ही आदि-अन्तहीन इस ज्योति:स्तम्भ का छोर नहीं पा सके । हे गिरीश! तुम्हारे स्वरूप को मापने में असमर्थ होकर भी अपनी अटल श्रद्धा-भक्ति के साथ विशेष भाव से तुम्हारी स्तुति करते रहने के कारण तुमने स्वयं ही उनके समक्ष अपना स्वरूप व्यक्त किया था । अमित प्रभावशाली ब्रह्मा-विष्णु जिनकी इस प्रकार स्तुति करने के फलस्वरूप ही दर्शन पाकर धन्य हुए थे, वहाँ साधारण मनुष्य एकमात्र इसी पथ से उनका दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता है, यह भी क्या कहने की बात है? हमारी सीमित क्षमता तथा क्षुद्र बुद्धि तुम्हें जानने में असमर्थ होने पर भी हमारी चेष्टा सार्थक क्यों नहीं होगी! ब्रह्मा तथा विष्णु की चेष्टा तो सार्थक हुई थी । तुम्हारे प्रति श्रद्धावान होने के कारण ही तुमने उनके समक्ष अपना स्वरूप प्रकट किया था । यद्यपि मैं ऐसा कह रहा हूँ कि उनकी श्रद्धायुक्त विनम्र स्तुति से सन्तुष्ट होकर तुमने स्वयं को प्रकटित किया था; किन्तु तुम्हारा यह स्वरूप-उन्मोचन निश्चय ही अहैतुक था । इसीलिए कहा गया – **स्वयं तस्थे ताभ्याम्** । अत: जो कोई भी श्रद्धापूर्ण चित्त से प्रयास करेगा, वह निष्फल नहीं होगा ।

अब पुष्पदंत महादेव से कहते हैं – तुम्हारे प्रति एकनिष्ठ भक्ति के फलस्वरूप ही रावण त्रिलोकजयी हुआ था –

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान् ।
शिर:पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबले:
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ।।११।।

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण – इन तीन शरीरों अथवा स्वर्ण, रजत तथा लौह से निर्मित दानवों की 'त्रिपुर' नामक नगरी या 'त्रिपुर' नामक असुर के विनाशक, हे त्रिपुरारि, महाशक्तिशाली रावण बिना प्रयास के ही त्रिलोकजयी हुआ था । वह इतना बलवान था कि उसे अपने साथ युद्ध करने के लिए कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं मिल रहा था । रावण के पराक्रम की बात सुनकर उसके सभी प्रतिद्वन्द्वियों ने अपने अपने अहंकार त्याग दिये थे । रावण का पराक्रम बताते हुए पुष्पदन्त कहते हैं – **बाहून् अभृत रणकण्डूपरवशान्** – अर्थात् रावण सदा युद्ध के लिए फड़क रही भुजाओं का स्वामी था । यहाँ तक कि युद्ध करने की तीव्र इच्छा से रणोन्मादी पराक्रमी रावण अपने हाथ खुजलाता रहता, प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में उसे कभी शान्ति नहीं मिलती थी ।

प्रश्न उठ सकता है कि रावण में इस अदम्य युद्धस्पृहा के लिए अमित शक्ति कहाँ से आयी? यहाँ उत्तर दिया गया – तुम्हारे प्रति अचला भक्ति से ही उसे वह प्राप्त हुई थी । उसी भक्ति के चलते उसने अपने सिरो रूपी पद्मों की माला बनाकर तुम्हारे श्रीचरणों में समर्पित किया था । इस घटना से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रावण का शिव के प्रति अनुराग कितना गम्भीर एवं अतुलनीय था ।

परन्तु इतनी शक्ति होने से भी क्या? दुष्टबुद्धि के लोगों में शक्ति के अहंकार से दुर्बुद्धि ही उत्पन्न होती है । इसीलिए पुष्पदन्त कहते हैं – आशुतोष, तुम्हारी कृपा सहजप्राप्त होने

पर भी दुष्ट स्वभाववाले उस कृपा की मर्यादा नहीं रख पाते –

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात् कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ।।१२।।

– तुम्हारी ही सेवा के फलस्वरूप रावण बाहुबल से युक्त था। परन्तु उस बल के द्वारा वह तुम्हारे निवास कैलास पर ही अपना पराक्रम दिखाने लगा! कैलास पर्वत को ही अपनी बीस भुजाओं से हिला देने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप पेड़-पौधों सहित पर्वत प्रकम्पित हो उठा था । तब तुमने अनायास ही अपने पाँव के अँगूठे के अग्रभाग से उसे थोड़ा-सा दबा दिया था, उसी से उसको पाताल तक में – कहीं भी खड़े होने को जगह नहीं मिली!

प्रश्न उठ सकता है कि जिसे भगवान की कृपा से इतनी शक्ति मिली हो, वह भी क्या उन्हें भूल सकता है? हाँ, क्योंकि जो व्यक्ति स्वभाव से ही दुष्ट या दुराचारी है, वह समृद्धि पाकर भी निश्चित रूप से मोहग्रस्त होकर प्रमाद से अपने प्रति किए गये उपकार को भूल जाता है – **ध्रुवमुपचितो मुह्यति खल** – जिनके बल से बलवान हुआ, भ्रमित होकर उन्हीं पर उस बल का प्रयोग करना चाहता है ।

तुम भक्तों की सभी अभिलाषाओं की पूर्ति करनेवाले हो –

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयस्त्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ।।१३।।

– हे वरदाता, इसी प्रकार तुम्हारे चरणों की एकनिष्ठ सेवा के फलस्वरूप बलिपुत्र बाणासुर ने इन्द्र की भी सर्वश्रेष्ठ अतुल समृद्धि को पराभूत कर दिया था तथा **परिजनविधेयत्रिभुवनः** – तीनों लोकों के निवासियों को अपने वशीभूत कर दास बना लिया था । परम बली बाणासुर के लिए यह जरा भी विस्मय-जनक नहीं था, क्योंकि वह तुम्हारे पादपद्मों में प्रणत हुआ था – **त्वचरणयोर्वरिवसितरि** । इन्द्र को पीछे छोड़ देना अति तुच्छ बात है; तुम्हारे चरणों में जो अवनत होता है, उसके लिए भला कौन-सी उन्नति दुर्लभ है? अर्थात् वह अनायास ही मुक्ति तक पा सकता है । **न कस्यां उन्नत्यै भवति शिरस-स्त्वय्यवनतिः** – तुम्हारे पादपद्मों में सिर नवाने से किसकी उन्नति नहीं होगी? जितने भी प्रकार की उन्नति की कल्पना हो सकती है, तुम्हारे भक्त के लिए उन सबकी प्राप्ति सम्भव है ।

अगला श्लोक बड़ा अद्भुत है । यहाँ परहितार्थ महादेव के **प्राणप्रच्छेदप्रीत** – हृदयस्पर्शी प्रेम का स्वरूप खिल उठा है –

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद् यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः ।।१४।।

– पुराण की कथा है । अमृत आदि पाने की आशा में देवों तथा असुरों ने मिलकर समुद्र-मन्थन आरम्भ किया था । मन्थन के फलस्वरूप जैसे विभिन्न मूल्यवान चीजें बाहर आईं, वैसे ही हलाहल – भयानक विष भी प्रकट हुआ था । समुद्र-मन्थन से उत्पन्न विष का परिमाण तथा तीव्रता इतनी भयंकर थी कि पूरे ब्रह्माण्ड का ध्वंस आरम्भ हो गया । विश्व को सहसा रसातल की ओर जाते देखकर जब सभी देवता तथा असुरगण भय से उद्विग्न हो रहे थे, तब उनके प्रति कृपादृष्टि आवश्यक हो गयी। अतः महादेव उसे अपने कण्ठ में धारण करके नीलकण्ठ बन गये थे । उनका कण्ठ नीला हो जाने से क्या उनका रूप विकृत हो गया? नहीं, बल्कि विकृत होने के स्थान पर वह और भी सुन्दर हो गया । वैसे कण्ठ का नीला होना अंग का एक विकार है, देखने में अशोभनीय है, परन्तु **विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः** – त्रिभुवन को भयमुक्त करना जिसका एकमात्र स्वभाव या अदम्य आग्रह हो, उसका यह अंग-विकार हो, तो यह भी श्लाघ्य है, गौरव बढ़ानेवाला है । हे त्रिनेत्र! तीनों लोकों की रक्षा करने हेतु तुमने जो विष धारण किया, उसी का चिह्न तुम्हारे नीलकण्ठ में विद्यमान है । इससे तुम्हारे अंग के सौन्दर्य में ह्रास नहीं हुआ है, बल्कि तुम्हारी महिमा में वृद्धि ही हुई है । इससे सभी देख रहे हैं कि प्रभु की कैसी कृपा है, जो उन्होंने जगत् को विनाश से बचाने के लिए उस विष को स्वयं ही कण्ठ में धारण किया है ।

अगले श्लोक में हमें महादेव का वैराग्यदीप्त मदनान्तक रूप देखने को मिलता है –

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्-
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ।।१५।।

– जिन कामदेव का बाण कभी व्यर्थ नहीं जाता; देव-असुरों तथा मनुष्यों के निवास इस त्रिलोक में जिस पर भी उन्होंने अपने बाण से आघात किया है, वह पराभूत हो गया; जिनका चिर विजयी वाण कभी असफल होकर वापस नहीं लौटा; उन कामदेव ने सोचा – जगत् में कोई भी देव-असुर या मानव ऐसा नहीं है, जो मेरे लिए अजेय है । अतः शिव के ऊपर भी उन्होंने अपने उसी बाण का प्रयोग किया । हे देवाधिदेव, तुम्हें भी साधारण देवता समझकर ही मदन ने तुम पर वाण चलाया था । इसका फल क्या हुआ? – **स्मर स्मर्तव्यात्मा** – कामदेव का शरीर केवल स्मृति बनकर रह गया अर्थात् तुम्हारे कोप रूपी अग्नि से भस्मीभूत हो गया । कहना न होगा कि तुमको अन्य साधारण देवताओं के तुल्य मानकर चलना ही मानो विपत्ति को आमंत्रण देना है; तुम संयम की प्रतिमूर्ति हो,

सुरश्रेष्ठ हो, तुम्हारी अवहेलना करना महासंकट का कारण हो सकता है । अत: पुष्पदन्त कहते हैं – **न हि वशिषु पथ्य: परिभव:** – जितेन्द्रिय व्यक्ति का तिरस्कार कभी हितकर नहीं होता । जो संयमी हैं, वे पराजय को कभी स्वीकार नहीं करते, उन्हें कभी दबाया नही जा सकता । तुम महासंयमी हो, तुमको जय करना कामदेव के लिए असम्भव है ।

मदनान्तक रूप के बाद अब उनका विश्वान्तक रूप प्रस्तुत किया जा रहा है –

मही पादाघाताद् व्रजसि सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ।।१६।।

– भगवान ताण्डव नृत्य कर रहे हैं । इसके फलस्वरूप क्या हुआ? उनके नृत्यमान पदों के आघात से पृथ्वी **व्रजसि सहसा संशयपदम्** अर्थात् पृथ्वी बचेगी या नहीं – ऐसा संशय होने लगा । नृत्य के साथ-ही-साथ उनके बाहुरूप दण्ड को इधर-उधर चलाने से सम्पूर्ण विश्व तीव्र गति से कम्पित होने लगा । जिसके फलस्वरूप **पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्** – सूर्य आदि ग्रह जिसमें स्थित हैं, वह भुव: अथवा अन्तरिक्ष लोक संशयावस्था को प्राप्त हुआ ।

फिर महादेव की खुली हुई जटा जोर जोर से हिल-डुल रही है, जिससे देवलोक की सीमा पर बारम्बार आघात हो रहा है । कम्पित जटाजूट द्वारा मात्र सीमा के स्पर्श से स्वर्ग भी विशेष रूप से आपदाग्रस्त है । उनके ताण्डव नृत्य से तीनों लोक त्रस्त हैं । अत: प्रश्न उठता है कि क्या सर्वशक्तिमान परमेश्वर जगत् का ध्वंस करने को उन्मुख हैं? – नहीं, **'जगद् रक्षायै त्वं नटसि'** – जगत् की रक्षा के लिए ही वे ताण्डव नृत्य कर रहे हैं । इसके प्रमाण के रूप में कहा जा सकता है कि सन्ध्या का अन्धकार सघन हो जाने पर, जो महाराक्षस जगत् का नाश करने को तत्पर हैं, उनके इस अद्भुत ताण्डव से मोहित होकर क्रूरता त्याग देते हैं और इस प्रकार जगत् की रक्षा हो जाती है । ताण्डव तो उनका एक माध्यम है, इसी के द्वारा वे जगत् को मोहित करके इसकी रक्षा ही करते रहते हैं । परन्तु हे परमेश्वर! **ननु वामैव विभुता** – तुम्हारी विशालता ही जग की अशान्ति का कारण है । उनकी विशालता कितनी है, वे भी नही जानते । वे नाच रहे हैं और पृथ्वी के चूर्ण हो जाने की आशंका उपस्थित है । कैसा सुन्दर वर्णन है! ताण्डव नृत्य में रत महादेव के पदाघात से पृथ्वी टूट-टूटकर चूर्ण हुई जा रही है, ग्रह-नक्षत्र ठोकर खा-खाकर बिखर रहे हैं । उनके हाथो के हिलने से अन्तरिक्ष आदि लोक ध्वंस के कगार पर हैं । पुष्पदन्त कहते हैं – तुम तो जीव के संहार के लिए नहीं, बल्कि जगत् की रक्षा करने के लिए ही नृत्य कर रहे हो, परन्तु तुम्हारी अति विशालता ही जगत् की दुर्दशा का कारण है ।

संशय होता है कि जो सर्वज्ञ हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि उनके इस भयानक नृत्य से तीनों लोक ध्वंस के कगार पर हैं? वे अवश्य ही यह बात जानते हैं, पर जैसे कोई साधारण प्रजापालक राजा भी जब देशरक्षा के लिए सेना का गठन करते हैं, युद्ध के लिए कूच करते हैं, तब किसी-न-किसी रूप में कुछ लोगों को कष्ट तो होता ही है । परन्तु उन राजा का उद्देश्य – राज्य की रक्षा अर्थात् जनहित ही होता है; वैसे ही विभुरूपी सबके प्रभु, तात्कालिक दृष्टि से ताण्डव के द्वारा सबमे भयरूप विपरीत भाव का संचार करते हैं । यद्यपि उनके आचरण में एक प्रकार की प्रतिकूलता दृष्टिगोचर होती है, तथापि उनका उद्देश्य जगत् की रक्षा या पालन ही होता है ।

अगला श्लोक भी उनकी विश्वव्यापी विशाल काया के वर्णन में मुखर है –

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचि:
प्रवाहो वारां य: पृषतलघुदृष्ट: शिरसि ते ।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं येन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपु: ।।१७।।

– पूरे नभ में फैले जलप्रवाह (आकाशगंगा) में उत्पन्न झाग की शोभा फैली है, उसके बीच तारों का समूह प्रतिबिम्बित हो रहा है, जिससे वह शोभा और भी बढ़ गयी है । शिव की जटा से उत्पन्न गंगा की फेन पर प्रतिबिम्बित होकर ग्रह-नक्षत्र अपूर्व शोभा की सृष्टि कर रहे हैं । इतना विशाल है वह जलप्रवाह! परन्तु तुम्हारे मस्तक पर वह बिन्दु से भी क्षुद्र प्रतीत हो रहा है और उसी बिन्दु में समुद्र से घिरा तथा जम्बु आदि सात द्वीपों से युक्त सारा विश्व दिखाई दे रहा है । अगस्त्य ऋषि द्वारा सातों समुद्र पूरा पी लिए जाने पर भी भगीरथ द्वारा लाई गई महादेव की जटासम्भूत गंगा की जलधारा से वह सब पुन: जलपूर्ण हो गया था । इससे अनुमान किया जा सकता है कि तुम्हारा दिव्य शरीर कितने विराट् आकारवाला है! क्योंकि जो गंगा स्वर्ग, मर्त्य व पाताल में क्रमश: मन्दाकिनी, भागीरथी तथा भोगवती के रूप में प्रवाहित हो रही है और सातों समुद्रों की परिपोषक है, वे ही महादेव के जटाजूट में ऐसी लगती हैं मानो जल की एक परम लघु बिन्दु हो । इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जिनकी जटाओं का आकार इतना विशाल है, उसके अनुपात से उनका शरीर कितना विशाल होगा ।

जो इच्छामात्र से एक निमेष में ही प्रलयाग्नि से त्रिभुवन को दग्ध कर देते हैं, वे ही त्रिपुरासुर का नाश करने के लिए कितना आडम्बर कर रहे हैं –

रथ: क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणि: शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयै: क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्रा: प्रभुधिय:।।१८।।

– त्रिपुरासुर महा-शक्तिशाली हो उठा है । देवता के वरदान से वह अजेय है । लाचार होकर देवगण त्रिपुरासुर का वध करने के लिए शिव के शरणागत हुए या दूसरा अर्थ हुआ असुर के जो तीन पुर या आश्रय – सोने, चाँदी तथा लोहे से निर्मित जो अभेद्य नगरी है, उसे दग्ध करने के लिए महादेव उन्मत्त हुए । तीनों लोकों के एकछत्र स्वामी महादेव के पास युद्ध के उपकरण के रूप में कुछ भी न था । पृथ्वी ही उनका रथ है और ब्रह्मा ही उस रथ के सारथी हैं । विशालता की कल्पना इस प्रकार है – चन्द्र-सूर्य उस रथ के चक्र हुए हैं, पर्वतराज सुमेरु धनुष हुए हैं और विष्णु बाण बने हैं । **रथचरणपाणिः** – रथ का चरण अर्थात् रथ का चक्का, वह चक्का जिनके हाथ में है, वे सुदर्शन चक्रधारी विष्णु हुए हैं तुम्हारे बाण ।

इतना विशाल आयोजन किसलिए? **त्रिपुरतृणम्** – त्रिपुर तो उनके समक्ष तिनके की भाँति तुच्छ है; उसका दहन या ध्वंस करने के लिए? जो इच्छामात्र से इस विशाल त्रिभुवन का संहार कर सकते हैं, उनके लिए स्वयं के नियंत्रण में जो उपकरण हैं, उससे इस प्रकार का विपुल आयोजन – सब मात्र एक खेल के जैसा है, क्योंकि **न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः** – प्रभु या सर्वनियन्ता की समस्त 'धी' या संकल्प कभी परतन्त्र अर्थात् किसी अन्य पर निर्भर नहीं होता । वे सर्वदा स्वतंत्र एवं स्वाधीन होते हैं; उन्हें कभी किसी उपकरण की अपेक्षा भी नहीं होती । इच्छामात्र से ही वे अपना सारा संकल्प पूर्ण कर सकते हैं; तथापि इन सब उपकरणों से वे मात्र खेल करते रहते हैं ।

विष्णु की पालनशक्ति का मूल शिवभक्ति ही है –

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ।।१९।।

– हे त्रिपुरनाशक! विष्णु ने तुम्हारे चरणों में हजार कमलों का उपहार देते समय देखा कि उसमें एक कम है । तुमने ही विष्णु की भक्ति की परीक्षा लेने हेतु एक कमल छिपा दिया था । इसके फलस्वरूप कहीं संकल्प भंग न हो जाय या विष्णु का 'कमललोचन' नाम सार्थक हो – इस निमित्त उन्होंने अपनी एक आँख निकालकर तुमको चढ़ा दिया था । उनकी भक्ति का यह चरम उत्कर्ष ही सुदर्शन-चक्र के रूप में परिणत हुआ, जो सर्वदा त्रिभुवन की रक्षा में सजग तथा तत्पर रहता है ।

कर्मफल का विधान करने में तुम्हारी सहज सामर्थ्य ही मनुष्यों की कर्मप्रवृत्ति के मूल में विद्यमान है –

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ।।२०।।

– यज्ञ जब सो जाता है अर्थात् पूरा हो जाता है, तब यज्ञकारी को फल देने हेतु तुम्हीं सदा जाग्रत रहते हो । अन्यथा यज्ञ समाप्त हो जाने पर फल प्रदान कौन करेगा? इस विषय में थोड़ी विवेचना करनी होगी । यज्ञ जब पूरा हो जाता है, तब यज्ञ से जो फल उत्पन्न होता है, वह स्वर्ग आदि या अन्य जो भी हो – उस फल के पहले उसका कारण होना चाहिये । कार्य के ठीक पूर्व कारण होना चाहिए । यदि यज्ञ कारण है, तब तो यज्ञ अर्थात् कारण समाप्त हो गया है, अब स्वर्ग आदि फल कैसे मिलेगा? पुष्पदन्त कहते हैं – तुम फलदाता हो । तुम सर्वज्ञ हो, तुमसे अज्ञात कुछ भी नहीं रह सकता । इसीलिए जो यज्ञादि करते हैं, वे फल पाते हैं, अन्यथा कर्म का फल किस तरह पाया जाएगा? **पुरुषाराधनमृते** – चेतन भगवान की आराधना के बिना यज्ञ के बाद फल कहाँ से आएगा? अतः समस्त कर्मफल के पीछे तुम्हारे सुनिश्चित आश्वासन की बात लोग जानते हैं । 'हे गार्गी! द्युलोक, भूलोक इन परमेश्वर के ही शासन में विधृत होकर अवस्थान कर रहे हैं', 'वे ही महान् जन्मरहित आत्मा एवं प्राणियों के अन्नदाता, धनदाता हैं' – आदि श्रुतियों में अविचलित श्रद्धासम्पन्न होकर वे दृढ़तापूर्वक कर्म में तत्पर रहते हैं । वे जानते हैं कि कर्म कभी भी व्यर्थ नहीं होगा, निष्फल नहीं जायगा, क्योंकि तुम कर्मफल प्रदान करने को वचनबद्ध हो । संसार में देखा जाता है, ऋणदाता किसी विश्वसनीय तथा धनवान व्यक्ति को जमानतदार के रूप पाकर किसी को भी ऋण देने में नहीं हिचकिचाता, क्योंकि उसे अपना धन डूबने का भय नहीं रहता । ठीक इसी प्रकार ऋणदातारूपी यज्ञानुष्ठान करनेवाले यजमान निःशंक मन से कर्म करते रहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि कर्म नष्ट हो जाने पर भी तुम जमानतदार या गारंटीकर्ता हो । ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन बयालीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

गुरु वरण करने का अभिप्राय क्या है? गुरु का वरण तो भगवान राम ने भी किया और रावण ने भी। बड़े महत्व का संकेत है। किसी को गुरु मान लेना ही सही अर्थों में गुरु का वरण करना नहीं हो जाता। यदि हम किसी को गुरु मान लें, पर उनकी बात न मानें, उनके उपदेश को ग्रहण न करें, उनके बताए हुए मार्ग पर न चलें, तो ऐसी स्थिति में गुरु से क्या लाभ? 'मानस' में रावण का परिचय तो सबसे बड़े मनोरोगी के रूप में दिया गया है और जिन्हें उसने गुरु के रूप में वरण किया, वे भगवान शंकर तो संसार के सबसे बड़े वैद्य हैं –

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना ।। १/१११/५

लेकिन हुआ क्या? क्या रावण स्वस्थ हुआ? जैसे आप बहुत बड़े डाक्टर या वैद्य को तो बुला लें, पर उनकी बात ही न सुनें और मनमानी करें, तो आप स्वस्थ कैसे होंगे? तब तो सबसे बड़े वैद्य को बुलाने से कोई लाभ नहीं होगा। कई लोग तो इसे अपना गौरव समझते हैं, सबसे बड़े वैद्य को बुलाकर गर्व से कहते हैं, मैंने उन्हें बुलाया था, अमुक डाक्टर मुझे देखने आये थे, सब लोग उन्हें नहीं बुला सकते, उनकी फीस इतनी अधिक है कि सब नहीं दे पाते। मैं दे सकता हूँ, इतनी फीस देकर उन्हें बुला सकता हूँ।

गुरु वरण करने का उद्देश्य क्या है? जब हमें यह भान होगा कि हम रोगी हैं और गुरु या वैद्य हमें स्वस्थ करेंगे, तब तो वरण होगा। किन्तु जब हमें यह भान ही न हो कि हम रोगी हैं, तब हम वैद्य के पास जाएँगे ही क्यों?

रावण के जीवन में यही बात है। उसकी समस्या यह थी कि उसने अपने जीवन में शंकर जी की दवा कभी स्वीकार ही नही की, बल्कि वह सर्वदा यही समझता रहा कि शंकर जी को मैंने गुरु बना लिया है, यह भी एक शोभा की बात है। गुरु ही नही बनाया, शंकर जी से यह भी कह दिया – "महाराज, मैं नित्य आपकी पूजा करना चाहता हूँ; परन्तु मैं तो राजकाज में व्यस्त रहता हूँ और आप फुरसत में रहते हैं। अत: मैं नहीं आ सकूँगा; आप ही आकर पूजा करवा जाया कीजिए।"

बेद पढ़ै बिधि संभु सभीत
पुजावन रावन सों नितु आवैं। कविता. ६/२

परन्तु इतने बड़े गुरु का वरण करके भी रावण का कल्याण नही हुआ। वह राम को नहीं पहचान सका। उसे सन्देह हुआ कि राम साधारण मनुष्य हैं और उसका सन्देह दूर नहीं हुआ। गुरु इसलिए बनाते हैं कि वे हमारे सन्देह को, भ्रम को दूर करेंगे। जब हम किसी को अपने से श्रेष्ठ मानते हैं, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि हममें अभाव है, कमी है। वस्तुत: अहंकार तथा मोह को दूर करना ही गुरु को वरण करने का मुख्य उद्देश्य है। परन्तु रावण का तो उद्देश्य ही उल्टा था, उसने अपने अहंकार तथा मोह के पोषण हेतु ही शंकर जी को गुरु बनाया था। मानो उसने शंकर जी को भी अपने वश में कर लेने का मोह तथा भ्रम पाल लिया था।

मानस-रोगों के सन्दर्भ में कागभुशुण्डि ने कहा – सद्गुरु वैद्य हैं, उनके वचनों पर विश्वास करना रोगी का कर्तव्य है और दवा? कहते हैं – भगवान की भक्ति ही औषधि है –

रघुपति भगति सजीवन मूरी। ७/१२२/७

पर ध्यान रहे, भगवान की भक्ति औषधि तो है, पर भक्ति के अनेक भेद भी बताये गये हैं। शबरी के प्रसंग में भगवान ने उन्हें नवधा या नौ प्रकार की भक्ति का उपदेश दिया, वाल्मीकि जी ने भगवान के समक्ष भक्ति के चौदह रूपों का वर्णन किया, लक्ष्मण जी द्वारा पूछने पर भगवान राम ने भक्ति की एक अन्य प्रकार से ही व्याख्या की। इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि सबके लिए एक ही तरह की भक्ति समान रूप से लाभदायक नहीं होती। अलग अलग प्रकार के लोगों के लिए अलग अलग प्रकार की भक्ति है। यह आवश्यक नहीं कि एक प्रकार की भक्ति से किसी को लाभ हुआ हो, तो वह बाकी सबके लिए भी समान रूप से हितकारी हो। सत्संग से किसी किसी को लाभ होता है, तो किसी को नहीं होता। कई लोगों का जीवन क्षण भर के सत्संग से रूपान्तरित हो जाता है। कुछ लोग जीवन भर कथा सुनते हैं, पर जहाँ के तहाँ रह जाते हैं; परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके अन्त:करण में कथा सुनकर तीव्र वैराग्य की वृत्ति का उदय होता है।

अब इन नौ या चौदह प्रकार की भक्तियों में से कौन-सी भक्ति किसके लिए अनुकूल है, इसका निर्णय कौन करेगा? गुरु या महापुरुष ही इसका निर्णय कर सकेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि किस व्यक्ति का अन्त:करण कैसा है, वह कैसे बदलेगा और उसके लिए भक्ति का कौन-सा रूप उपादेय है। वे ही निर्णय लेंगे कि किसको सत्संग का उपदेश दें, किसको

क्या सुनने का, किसको गुरु की सेवा करने का और किसको मन्त्र जप करने का । इसके साथ एक बात और जुड़ी हुई है । वैद्य जब दवा देता है तो उसके साथ साथ यह भी बता देता है कि उसे क्या क्या परहेज करना है, क्या क्या चीजें नहीं खानी हैं । अब दवा की पुड़िया तो छोटी-सी है । उसे खाने के बाद आपने निषिद्ध चीजे भी मनमानी करके खा लीं । अब वह छोटी-सी पुड़िया काम करेगी या इतना सारा कुपथ्य, जिसे आपने खा लिया है? कथा तो होती है घण्टे-दो घण्टे या साल में एक-दो महीने और बाकी वर्ष भर पूरे समय कुपथ्य चल रहा है, तो प्रभाव किसका होगा – कथा का या कुपथ्य का? इसीलिए भगवान राम ने शबरी जी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए यह भी कह दिया कि ध्यान रखना, भक्ति के साथ साथ कही कुपथ्य न हो । वहाँ पर अलग अलग भक्ति के साथ अलग अलग पथ्य बताते हुए बड़ा विस्तृत और सुन्दर विश्लेषण किया गया है । यथा, भगवान ने तीसरी भक्ति का वर्णन करते हुए कहा कि गुरु की सेवा करना तीसरी भक्ति है, परन्तु गुरु की सेवा करें कैसे? उन्होंने कहा –

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।। ३/३५

अभिमान छोड़कर गुरु की सेवा करना । अभिप्राय यह कि गुरु का वरण यदि अभिमान या शोभा में वृद्धि के लिए किया जाय, तो चाहे जितने भी बड़े गुरु क्यों न प्राप्त हो जायँ, पर इससे भला नहीं होगा । रावण के जीवन में यही हुआ । वस्तुत: जब हम स्वयं निर्णय करते हैं, तो दो ही बातें हो सकती हैं । निर्णय यदि गलत हो गया, तब तो हानि होगी ही और सही हो गया, तो अभिमान आये बिना नहीं रहेगा कि हम कितना सही निर्णय करते हैं । यह सही निर्णय का अभिमान व्यक्ति को किसी भी स्थिति में, कभी भी पतन की ओर ढकेल सकता है । इसलिए गुरु के वरण का मुख्य उद्देश्य यह है कि हम गुरु के चरणों में अपने अभिमान को विसर्जित कर दें । इसीलिए नाम भी बड़ा सुन्दर चुना गया है – गुरु । गुरु के दो अर्थ हैं – एक है व्युत्पत्तिजन्य और दूसरा रूढ़ । गुरु का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है – अन्धकार को दूर करनेवाला और रूढ़ अर्थ है भारी । जैसे किसी पर कोई बड़ा भार सौंप दिया जाता है, तो कहते हैं – बड़ा गुरु भार सौंप दिया गया । रामायण में भी जब सेवाधर्म की वर्णन किया गया तो कहा गया –

हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू । २/२५३/६

यहाँ पर गुरु शब्द का प्रयोग भारी के अर्थ में किया गया है । अत: गुरु का एक अर्थ है भारी । लेकिन किस दृष्टि से? गुरु की दृष्टि से नहीं, शिष्य की दृष्टि से । ध्यान रखिये, गुरु की विशेषता यही है कि वे स्वयं अपनी दृष्टि में भारी नहीं हैं । यदि वे स्वयं अपनी दृष्टि में बिल्कुल हल्के हैं, उनमें अपना अभिमान है ही नहीं, तो फिर वे भारी कैसे हो गये? ऐसे कि उनके जितने शिष्य है, वे सभी अपना अपना अभिमान गुरु के चरणों में सौप देते है और गुरु में गुरुत्व देखते हैं, पर गुरु स्वयं अपनी दृष्टि में कुछ नहीं हैं । शिष्य की श्रद्धा में ही गुरु का गुरुत्व है । इस गुरुत्व का सदुपयोग होता है, इसका बड़ा सांकेतिक वर्णन गोस्वामी जी ने 'मानस' में किया है ।

शिव जी का धनुष तोड़ने रावण भी आया था और बाद में श्रीराम भी आये, परन्तु एक बड़ी विचित्र बात है । रावण इतना शक्तिशाली और इतना बड़ा योद्धा था कि वर्णन आता है – उसने कैलाश पर्वत को अपने सिर पर उठा लिया था । अब प्रश्न यह है कि जब इतने विशाल कैलाश पर्वत को उठा लिया, तो कैलाश पर्वत के ऊपर स्वयं भगवान शंकर और पार्वती जी भी बैठे थे और उनका वह धनुष भी वही रखा रहा होगा । जब उसने इतना सब उठा लिया, तो धनुष-यज्ञ में रखे हुए केवल एक धनुष को देखकर चुपचाप क्यों चला गया? मन्दोदरी ने रावण को यही उलाहना तो दिया – "यदि तुम सीता जी से विवाह ही करना चाहते थे, तो धनुष को उठाकर तोड़ क्यों नहीं दिया । जनक जी ने कोई अपने मन से तो सीता जी का राम से विवाह कर नहीं दिया । उन्होंने तो स्पष्ट ही कहा था कि जो धनुष तोड़ देगा, उसी को मैं अपनी कन्या दूँगा । मैंने तो सुना है कि आप भी वहाँ गये थे, तो क्यों नही धनुष को तोड़कर सीता जी को पा लिया ।" रावण बड़ा पण्डित था । उसे अपनी बुद्धि का बड़ा अहंकार था और बात बनाने की कला में वह अत्यन्त निपुण था । उसने कहा – "मन्दोदरी, तुम समझती नहीं हो, अरे, जो कैलाश को उठा सकता है, उसे धनुष को उठाने में क्या कठिनाई होगी?" मन्दोदरी ने पूछा – "तो फिर उठाया क्यों नहीं?" वह बोला – "बात दरअसल यह थी कि जनक ने अगर केवल उठाने के लिए कहा होता तो मैं उसे तत्काल उठा देता, पर उसने तो कह दिया था कि धनुष को तोड़ना भी है । अब तुम तो जानती हो कि मैं गुरु का कितना भक्त हूँ, अत: गुरु के धनुष को तोड़ना उचित न समझकर मैं लौट आया!" मन्दोदरी बोली – "लेकिन श्रीराम ने तो उसे तोड़ दिया । तो क्या वे शंकर जी के भक्त नहीं हैं? वे भी तो भगवान शंकर की पूजा करते हैं ।" आगे चलकर बड़ी मधुर बात आती है – शिव का धनुष टूटा तो परशुराम आ गये । बिगड़कर उन्होंने जनक जी से पूछा – रे मूर्ख जनक, धनुष किसने तोड़ा?

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा ।। १/२६०/३

जनक तो बड़े भयभीत हो गये, कुछ बोल नहीं सके । तब भगवान राम ने हाथ जोड़कर कहा –

नाथ संभु धनु भंजनिहारा ।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा ।। १/२७१/१

महाराज, शंकर जी के धनुष को तोड़नेवाला आपका ही

कोई सेवक होगा। यह सुनकर परशुराम जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। सेवक की ऐसी व्याख्या परशुराम जी ने कभी नही सुनी थी। वे बोले – "आज तो तुमने बुद्धिमत्ता की हद कर दी। मैंने यह तो सुना था कि जो स्वामी की वस्तु की रक्षा करे, वह सेवक है, लेकिन जो स्वामी की वस्तु को तोड़ दे, वह सेवक कैसे हुआ, वह तो शत्रु है।" ये ही शब्द थे उनके –

सेवक सो जो करै सेवकाई।
अरि करनी करि करिअ लराई ।। १/२७१/३

धनुष को तोड़ देना तो शत्रु का कार्य है। ऐसी स्थिति में तुमने जो व्याख्या की वह तो बिल्कुल उल्टी है। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि क्यों तुम ऐसी उल्टी व्याख्या कर रहे हो। श्रीराम ने कहा – "महाराज, शंकर जी का धनुष तोड़नेवाला तो उनका दासानुदास, उनके सेवक का सेवक है।" भगवान का अभिप्राय था कि आप शंकर जी के शिष्य हैं और धनुष तोड़नेवाला आपका सेवक है। परशुराम जी चिढ़कर बोले – "नही, नही, वह मेरा सेवक नहीं हो सकता।" – "तो क्या है?" – "राम, जिसने मेरे गुरु का धनुष तोड़ा है, उसे मैं सहस्त्रार्जुन के समान अपना शत्रु मानता हूँ" –

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा।
सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ।। १/२७१/४

अब यदि इसे बहिरंग दृष्टि से देखें तो परशुराम जी का तर्क ठीक ही प्रतीत होता है। लगता है कि अपने आराध्य की किसी वस्तु को तोड़ने देना, उनका अनादर है। परशुराम जी की भावना यही है और रावण ने भी यही बहाना बनाया। परन्तु भगवान राम की जो भावना है, उसका अर्थ क्या है? इसमें कई सूक्ष्म सूत्र हैं।

सेवा का अर्थ क्या है? अलग अलग सन्दर्भों में इसके अलग अलग अर्थ हैं। कभी कभी सेवा का अर्थ समझने का प्रयास करना पड़ता है। और जहाँ लगता है कि सेवा नहीं है, वहाँ भी सेवा हो सकती है। स्वामी की वस्तु को तोड़ देना भी कही कही पर सेवा है। दृष्टान्त के रूप में इसे यों कहें कि जैसे जल पीने के लिए साधारणतया दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं – एक तो गिलास या धातु का कोई पात्र, जिसमें जल पीकर उसे फिर स्वच्छ करके रख दिया जाता है। लेकिन जल पाने की एक दूसरी पद्धति भी है – मिट्टी का बना वह पात्र, जिसे कुल्हड़ कहते है। अब यदि स्वामी कुल्हड़ में जल पीकर उसे सेवक के हाथ में दे दे, तो उसे धोकर रख देना क्या सेवक की बुद्धिमानी होगी। उसे तो पटककर तोड़ देना ही सेवक का कर्तव्य है। वह बुद्धिमान होगा, तो तत्काल समझ जायगा कि इसमे दूसरी बार जल नही पिया जायेगा, अब तो यह केवल तोड़ देने योग्य है। उसे तोड़ देने पर कोई क्रोध भी नहीं करता, बल्कि प्रसन्न ही होगा कि अब तो उसका कोई उपयोग रहा नही, चलो तोड़ दिया तो अच्छा ही किया।

भगवान राम का संकेत बड़ा मधुर था। शंकर जी का धनुष अहंकार का प्रतीक है और अहंकार का प्रयोग भी संसार में लोग दो तरह से करते हुए दिखाई देते हैं। कुछ लोग उसका प्रयोग धातु के बर्तन की तरह करते हैं और कुछ लोग कुल्हड़ की तरह। इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग अपना अभिमान निरन्तर पाले रखना चाहते हैं, उनका अभिमान तो मानो धातु के बर्तन के समान है – बारम्बार अपने कृतित्व का प्रदर्शन करना कि मैने यह किया वह किया आदि आदि। परन्तु शंकरजी का अहंकार मिट्टी के बर्तन के समान है। जैसे मिट्टी के कुल्हड़ मे पानी पीने के बाद उसे फेक दिया। जिस धनुष के द्वारा त्रिपुरासुर को परास्त किया, उद्देश्य पूरा हो जाने पर उन्होने उस धनुष का परित्याग कर दिया। सात्त्विक अहंकार का केवल इतना ही सदुपयोग है कि साधना के द्वारा दुर्गुणों को नष्ट कर दिया जाय। सात्त्विक अहंकार के बिना साधना नही होती। परन्तु इस सात्त्विक अहंकार की अन्तिम परिणति यही होनी चाहिए कि साधना पूरी होते ही उसका परित्याग कर दिया जाय, उसे तोड़ दिया जाय। पर साधना पूर्ण होने के बाद भी यदि कोई उसे पकड़े बैठा रहे, तब तो यह उसका दुरुपयोग ही होगा। शंकर जी की महानता यही है कि कार्यसिद्धि होते ही उन्होंने उस धनुष को त्याग दिया।

भगवान राम ने परशुराम जी से यही कहा – "महाराज, आप क्रोध क्यों कर रहे है, जाकर थोड़ा शंकर जी से भी तो पूछ लीजिये कि धनुष का टूटना उन्हें कैसा लगा। धनुष के टूटने पर वे प्रसन्न हैं या नहीं।" भगवान राम के कहने का अभिप्राय क्या है? मानो धनुष ही भगवान शंकर से कहता है – "महाराज, आप सभी को तो मुक्ति देते हैं, पर मेरे साथ यह आपका कैसा उल्टा व्यवहार है?" – क्या? बोले – "मुझे तो आप जब देखो, बाँधते ही रहते हैं।" धनुष का नियम यह है कि चलाने से पहले उस पर डोरी जरूर बाँधी जाती है। बिना रस्सी बाँधे धनुष चलेगा कैसे? याद रहे कि साधना के लिए सात्त्विक अहंकार की अपेक्षा है और सात्त्विक अहंकार ग्रहण करने पर कोई-न-कोई नियम या बन्धन स्वीकार करना ही होगा। बिना बन्धन को स्वीकार किये साधना हो ही नहीं सकती। इसलिए बड़ी व्यंग्यात्मक भाषा में धनुष ने कहा – "आप सबको मुक्ति देनेवाले हैं, परन्तु मुझे तो सर्वदा बाँधते ही रहते हैं। क्या मेरी भी कभी मुक्ति होगी?" भगवान शंकर ने कहा – "तुम्हारी मुक्ति का एक ही उपाय है। जब तक तुम बने रहोगे, तब तक तुम बँधते रहोगे। हाँ, जब भगवान राम आयेगे और तुम उनके हाथ में पहुँचकर टूट जाओगे, तब तुम्हारा बन्धन समाप्त हो जायेगा।" मुक्ति का उपाय क्या है? – अहंकार का भगवान के चरणों में अर्पित होकर विनष्ट हो जाना। सात्त्विक अहंकार के द्वारा श्रेष्ठ साधना करने के बाद अन्त में भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए – प्रभो, अब इस

सात्त्विक अहंकार को भी तोड़ने की कृपा कीजिए। अब इसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

धनुष से पूछा गया – "भगवान राम ने जब तुम्हें उठाया, तो तुम्हें कैसा लगा?" वह बोला – "प्रभु ने जब मुझे अपने करकमलों में लिया, तब मुझे लगा कि यह मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है।" पूछनेवाले ने कहा – "परन्तु उन्होंने तो तुम्हें तोड़कर पटक दिया।" धनुष बोला – "नहीं, नहीं, उन्होंने मुझे अपने हाथ में उठाया और बन्धनमुक्त करके अपने चरणों में स्थान दिया। इससे बड़ा मेरा सौभाग्य और क्या होगा!" गीतावली में गोस्वामी जी कहते हैं – यह धनुष तो मानो शंकर जी का पढ़ाया हुआ था, भगवान के हाथों में आते ही स्वयं टूट गया, मानो बन्धनमुक्त हो गया –

सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो
जनु हुतो पुरारि पढ़ायो ।। गीता. १/८३

भगवान राम मानो बताना चाहते हैं कि सेवा की परिभाषा कभी कभी बदल जाती है। इसका एक व्यावहारिक दृष्टान्त लें – बालक को मिठाई दे देने में माँ का वात्सल्य है, पर यदि उसके शरीर में फोड़ा हो जाय और माँ उसे चिकित्सक के पास ले जाकर चीरा लगवा दे, बालक को कष्ट हो रहा है, वह रो रहा है, तो भी माँ कठोर होकर बालक की चिकित्सा कराती है – यह उसका वात्सल्य है या नहीं? गोस्वामी जी कहते हैं –

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं ।
मातु चिराव कठिन की नाईं ।। ७/७४/८
यदपि प्रथम दुख पावइ, रोवइ बाल अधीर ।
व्याधि नास हितजननी, गनति सो सिसु पीर ।।
तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ।
तुलसीदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि।।७/७४

श्रीराम मानो यह संकेत देना चाहते हैं कि स्वामी की वस्तु की रक्षा तो करनी चाहिए, पर जब किसी चीज का उद्देश्य पूरा हो गया हो, उपयोगिता न रह गयी हो और वह अनावश्यक भार बन गयी हो, तो क्या उसे नष्ट कर देना ही सेवक का कर्तव्य नहीं है? साधना की पूर्ति हो जाने के बाद अन्ततः सात्त्विक अहंकार का टूट जाना ही उसकी परम सार्थकता है।

नाथ संभु धनु भंजनिहारा ।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा ।।

श्रीराम ने परशुराम जी से यह नहीं कहा कि मैं शंकर जी का सेवक हूँ। वे बोले – "मैं तो आपका सेवक हूँ।" भगवान के इस वाक्य में बड़ा सूक्ष्म और महत्वपूर्ण संकेत है। उनका तात्पर्य यह था कि महाराज इस धनुष को तोड़ने में मेरी ऐसी कोई भावना नहीं है कि मैंने तोड़ा है। तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य से कहे कि मैं तुम्हारा अभिमान नष्ट कर दूँगा, तो उसका यही अर्थ हुआ कि मैं तुम्हारा अभिमान नष्ट करके अपना अभिमान बढ़ाऊँगा। तो फिर अभिमान नष्ट कहाँ हुआ? वह तो ज्यों-का-त्यों बना रहा। अभिमान के द्वारा अभिमान कैसे नष्ट होगा? दूसरे का अभिमान नष्ट करनेवाला अपना अभिमान बढ़ा लेता है। जब अपना और पराया सबका अभिमान नष्ट हो जाय, तभी वह नष्ट माना जायेगा। भगवान राघवेन्द्र की शैली क्या है? वे महाराज जनक की सभा में बैठे हुए हैं, परन्तु धनुष तोड़ने के लिये नहीं उठे। कब तक नहीं उठे? वही परम्परा – जब तक गुरु का आदेश न हो, तब तक नहीं उठेंगे। यही अन्तर है अन्य राजाओं और भगवान श्रीराम में। अन्य राजाओं ने इष्ट को महत्त्व दिया और भगवान राम ने गुरु को महत्त्व दिया। राजाओं के लिए कहा गया –

चले इष्ट देवन्ह सिर नाई । १/२५०/६

जितने राजा वहाँ आये थे, उनमें से कोई भी अपने गुरु के साथ नहीं आये थे, सब अकेले ही आये थे। वे जब धनुष तोड़ने को उठे, तो अपने इष्टदेव का स्मरण किया। किसी ने गणेश जी का स्मरण किया, किसी ने शंकर जी का, किसी ने विष्णु भगवान का। इष्टदेव और गुरु में अन्तर क्या है? अन्तर यह है कि इष्टदेव से तो हम जो जी में आये, वही माँग बैठते हैं। परन्तु यदि गुरु से माँगे तो? वे तो उचित-अनुचित, हित-अहित का विचार करके ही हमारी माँग पूरी करेंगे। अनुचित माँग तो वे पूरी नहीं करेंगे।

वहाँ अनेक राजा ऐसे थे, जिनके इष्टदेव गणेशजी थे और इसी तरह अनेक शंकर जी के तथा अनेक विष्णु भगवान के भक्त थे। सभी राजाओं ने अपने अपने इष्टदेव का स्मरण किया, लेकिन परिणाम क्या हुआ? धनुष नहीं टूटा। कारण यह था कि जब कोई एक राजा अपने इष्टदेव गणेश जी से यह माँग करता था कि धनुष हमसे तुड़वा दीजिए; तब गणेश जी के भक्त बाकी सारे राजा एक साथ उनसे प्रार्थना करते थे कि धनुष इससे न टूटे। टूटे तो हमसे ही टूटे। अब इष्टदेव भी संकट में पड़े। किसकी सुने, एक की सुनें या सबकी सुनें? उन्होंने बहुमत का पक्ष लिया और वह बेचारा राजा जो धनुष तोड़ने गया था, असफल और लज्जित होकर लौट आया। और जब दूसरे राजा ने धनुष तोड़ने को उठकर मन-ही-मन गणेश जी का स्मरण किया; तो वह राजा जो धनुष नहीं तोड़ पाया था, वह भी गणेश जी के अन्य सब भक्त राजाओं में सम्मिलित हो गया और गणेश जी को उलाहना देते हुए कहा – हमसे धनुष नहीं तुड़वाया, तो अब कृपा करके इससे भी न तुड़वाइये। यही क्रम चलता रहा। देखिये, कृपा का रूप कैसे बदल जाता है। धनुष तो किसी से टूटा नहीं। सब राजा अपने अपने इष्टदेव से बड़े रुष्ट हुए कि हमने इतनी पूजा-अर्चना की और आपने हमारी बात बिल्कुल नहीं रखी। और अन्त में जब धनुष श्रीराम के हाथों टूट गया, तब तो उन

राजाओं का अपने इष्टदेव पर से विश्वास ही उठ गया। वे बोले – "महाराज, धनुष तुड़वाने के लिए क्या यही एक राजकुमार था? आपकी पूजा करने से कोई लाभ नहीं।" पर मजा तब आया, जब परशुराम जी पहुँचे। आते ही उन्होंने जनक जी से पूछा – "बताओ, यह धनुष किसने तोड़ा है, मैं उसका सिर काट लूँगा। तब राजाओं ने अपने अपने इष्टदेव को धन्यवाद दिया कि आपने बड़ा अच्छा किया जो हमसे धनुष नहीं तुड़वाया, नहीं तो परशुराम जी हमारा सिर ही काट लेते।

हम लोगों की कृपा की व्याख्या बदलते देर नहीं लगती। हम कब क्या माँग बैठेंगे, इसका कोई ठिकाना नहीं और न उसमें कोई तारतम्य ही होता है। अब यदि परस्पर-विरोधी माँग हो तो इष्टदेव भी क्या करें? इसका अभिप्राय यह है कि कभी कभी हम अपने अहं को ही इष्ट बना लेते हैं, अपने अहं की ही पूजा करते हैं और अपने अहं की सन्तुष्टि को ही इष्ट या ईश्वर की कृपा का लक्षण मान लेते हैं।

भगवान श्रीराघवेन्द्र बैठे हुए हैं, क्या सचमुच वे बैठे हुए हैं? वे तो ईश्वर हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं, पर धनुष तोड़ने के लिए नहीं उठे। जनक जी ने कह दिया – इस पृथ्वी पर कोई वीर नहीं है, तो भी नहीं उठे। लक्ष्मण जी उठ खड़े हुए और जनक जी को फटकार दिया, फिर भी नहीं उठे। कब तक नहीं उठे? बस एक ही सूत्र है। गुरु ने कहा – राम, उठो और धनुष को तोड़कर जनक के कष्ट को दूर करो –

उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा॥
सुनि गुरु बचन चरन सिर नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥ १/२५४/६-७

श्री राघवेन्द्र ने पहला कार्य क्या किया? उठकर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया। वही सांकेतिक भाषा है। यह शिष्य का उठ जाना और गुरु का बैठे रह जाना। जैसे तराजू के दोनों पलड़ों पर वस्तुएँ रख दी जायँ, तो जो पलड़ा भारी होगा, वह नीचे रहेगा और जो हल्का होगा, वह ऊपर उठ जायगा। शिष्य स्वयं को हल्का मानता है, अत: उठकर प्रणाम करता है और गुरु के चरणों में अपना अहंकार अर्पित करके श्रद्धापूर्वक उनकी वन्दना करता है।

इसके बाद भगवान राम ने धनुष को तोड़ दिया। गोस्वामी जी से पूछा गया कि धनुष को तोड़कर श्रीराम को अहंकार हुआ या नही? गोस्वामी बोले – "यदि कोई व्यक्ति स्वयं कोई भारी वस्तु उठा लेता है, तो उसके मन में यह बात आये बिना नही रहेगी कि मैंने इतनी भारी वस्तु उठा ली, परन्तु यदि तराजू के एक पलड़े पर कोई भारी वस्तु रखी हो और दूसरी पर उससे अधिक वजन का बाट रखा हो, तो वस्तु वाला पलड़ा ऊपर उठ जायगा। अब यदि कोई व्यक्ति तराजू से कहे – "वाह! आपने तो इतनी भारी वस्तु उठा ली।" तो इस पर तराजू क्या कहेगा? क्या वह गर्व से कहेगा – "हाँ, मैंने उठा ली है?" क्या उसे अभिमान होगा? वह तो यही कहेगा – "मैंने कहाँ उठाया? यह तो दूसरे पलड़े पर जो इतना वजनी बाट रखा हुआ है, उसी के कारण यह भारी वस्तु अपने आप उठ गई। इसमें मेरा क्या कमाल है? गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान श्रीराम ने भी उसी कला का प्रयोग किया। बड़ी सांकेतिक भाषा है। श्रीराम धनुष के पास पहुँचे और –

गुरहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा।
अतिलाघवँ उठाइ धनु लीन्हा॥ १/२६१/५

इस पंक्ति के पूर्वार्ध में गुरु शब्द का प्रयोग है और उत्तरार्ध में लघु शब्द का। भगवान राम ने सोचा एक ओर धनुष है और दूसरी ओर गुरु बैठे हैं। जो भारी है वह नीचे बैठ जायेगा और हल्कावाला पलड़ा स्वयं ऊपर उठ जायगा। अन्य लोगों के पास तौलने के लिए तो कोई गुरु था नहीं, इसलिए उनके लिए धनुष ही भारी था। श्रीराम जानते थे कि यह गुरुदेव की इच्छा है, वे चाहते हैं कि मैं धनुष तोड़ूँ, उन्होंने तोड़ने का आदेश दिया है। अब मुझे तो केवल गुरु की आज्ञा का पालन करना है। यह कार्य तो उनके आदेश और उनकी कृपा से ही पूर्ण होगा। मैं तो केवल दिखाई भर दे रहा हूँ। वस्तुत: यह तो गुरु का गुरुत्व ही है कि वह शिष्य से कोई कार्य सम्पन्न करा ले, कोई साधना सिद्ध करा ले, अभिमान का नाश करा ले। अत: धनुष टूटने के बाद श्रीराम को ऐसा लगा –

दमकेउ दामिनि जिमि जब लयउ।
पुनि नभ धनु मंडल सम भयउ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े।
काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥ १/२६१/६-७

भगवान राम को धनुष तोड़ते किसी नें नहीं देखा और उन्होंने स्वयं भी यह दावा नहीं किया कि मैंने धनुष तोड़ा। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि जब व्यक्ति अपने अहंकार से साधना करता है, तो साधना के साथ साथ उसका अहंकार भी बढ़ता है। वह कहे बिना नहीं रह पाता कि मैंने इतनी साधना की और उसका यह फल पाया। लेकिन जहाँ पर व्यक्ति ने अपने अभिमान को गुरु के चरणों में अर्पित कर दिया है, वहाँ साधना में सफलता मिलने के बाद भी उसके मन में यही बात आनी चाहिए कि अरे, यह तो गुरु की कृपा थी कि उन्होंने मुझसे ऐसा करा लिया, अन्यथा मैं स्वयं नहीं कर पाता।

गोस्वामी जी ने 'मानस' में सद्गुरु को इसी रूप में प्रस्तुत किया है कि मानो भगवान राम का समग्र जीवन गुरु की प्रेरणा से ही परिचालित हो रहा है। विविध प्रसंगों में यही दिखाई देता है कि मानो वे पग पग पर गुरु से ही प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं। कहीं वे मार्ग पूछ रहे हैं, तो कहीं मंत्र। महर्षि भरद्वाज से

कहते हैं – किस मार्ग से जाऊँ? सद्गुरु का लक्षण क्या है? जो मार्गदर्शन करें, वे ही सद्गुरु हैं। लोग गुरु से मंत्र लेते हैं। दण्डकारण्य में उन्होंने गुरु से मंत्र लिया। कौन-सा मंत्र लिया? सच्चा मंत्र। वहाँ वे महर्षि अगस्त्य से कहते हैं – अब कृपया मुझे ऐसा मंत्र दीजिये, जिससे मैं रावण को मार सकूँ –

अब सो मंत्र देहु प्रभो मोही।
जेहि प्रकार मारौ मुनि द्रोही।। ३/१३/३

रावण क्या है? मूर्तिमान मोह है। तो भगवान श्रीराम क्या मोह का विनाश नही कर सकते थे? भगवान के लिए तो कुछ भी असम्भव नहीं है। वे रावण का विनाश कर सकते थे। पर श्रीराम कहते हैं – नही, नहीं, महर्षि अगस्त्य ऐसा मंत्र देंगे, जिससे रावण का वध हो। अभिमान से वे कितने मुक्त हैं! सदा अपने को गुरु के चरणों में सौंप देने को प्रस्तुत हैं।

जब वे लंका से लौटकर आये, तो एक ओर बन्दर खड़े थे और दूसरी ओर गुरु वशिष्ठ। कौशल्या जी ने सुना था कि राम ने रावण को मार दिया। आश्चर्य से देखती हैं कि मेरे इस सुकुमार पुत्र ने रावण को कैसे मार दिया? भगवान राम गुरु वशिष्ठ तथा बन्दरों से बोलते हुए कुछ इस पद्धति से बोले कि कौशल्या जी भी सुन लें। उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कहा –

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहें बेरे।। ७/८/७

– महाराज, ये सब मेरे वानर मित्र युद्ध-समुद्र में जहाज बन गये और मैं पार हो गया। किन्तु भाषा उनकी बड़ी विचित्र है। गुरु से तो कह दिया कि बन्दरों ने जहाज बनकर मुझे पार उतार दिया। और बन्दरों से कहने लगे – मित्रो, ये हमारे गुरु हैं, जिनकी कृपा से मैंने रावण को मारा –

गुर बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे।
इन्ह की कृपा दनुज रन मारे।। ७/८/६

सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है – दो तरह की बातें! इनमें कौन-सी सत्य है? भगवान ने कहा – भाई, जब कोई समुद्र पार करता है तो उसे दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है। एक तो नाव की – नाव न हो तो भी व्यक्ति पार नहीं हो सकता। ये सब वानर नाव हैं, माने?

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट ...। विनय. ५८

ये समस्त वानर-भालू कैवल्य-साधन हैं, अत: ये समस्त प्रकार की साधनाएँ ही नौका है। और दूसरी वस्तु है मल्लाह। केवल नौका हो और उसे चलानेवाला मल्लाह न हो, तो भी समुद्र पार नहीं किया जा सकेगा। मल्लाह कौन है? बोले –

करनधार सद्गुर दृढ़ नावा।६/४४/८

उन्होंने कहा कि बन्दर लोग जहाज बन गये और गुरुदेव मल्लाह बन गये, अत: मैं तो बिना किसी प्रयास के ही समुद्र पार हो गया। इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं है। तात्पर्य यह कि भगवान राम की दृष्टि में अभिमान के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

वस्तुत: गुरु का तत्त्व क्या है, इसे भगवान राम ने अपने चरित्र के द्वारा 'मानस' के विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वे स्वयं पूर्णब्रह्म परमात्मा होकर भी अपनी लीला में गुरु का वरण करते हैं। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि जीव के सामने अभिमान की समस्या है और इस अभिमान से बचने हेतु उसके लिए गुरु का वरण आवश्यक है। व्यक्ति जब श्रद्धावान होकर गुरु का वरण करेगा, जब उनके वचनों पर विश्वास करके उनके बताए हुए साधनों का आश्रय लेगा, तभी उसके मन के रोग समाप्त होंगे। ❖ **(क्रमश:)** ❖

जयतु हितकामी विवेकानन्द

रवीन्द्रनाथ गुरु

असीमब्रह्माण्डेश्वर चरमपद्मार्पितमति-
रखण्डानन्दज्ञः शमित-रिपुवर्गोऽनघयतिः
विवेकात्मप्रज्ञामृतद-रुचिर श्रेष्ठमुदिरो
विवेकानन्दाख्यो जयतु हितकामी भुवि सताम्।

– असीम ब्रह्माण्ड के स्वामी – परमेश्वर के पादपद्मों में समर्पित बुद्धिवाले, अखण्ड आनन्द को जाननेवाले, काम-क्रोध आदि रिपुओं का नाश करनेवाले, जगत् के साधुजनों के हितकांक्षी और विवेक तथा आत्मबोध रूपी सुधावृष्टि करनेवाले सुन्दर मेघरूप विवेकानन्द नामधारी निष्पाप यति की जय हो।

वदान्यः स धन्यो विमलचरितः पुण्य जलधि-
र्जगन्मातुर्भक्तो विनयविभवो दीप्तनयनः।
सुयोगीन्द्रो धीमान् ह्यभयदशिवाराधनपरो
विवेकानन्दाख्यो जयतु हितकामी भुवि सताम्।।

– विवेकानन्द नामवाले उन यति की जय हो, जो जगत् के साधुजनों के हितकांक्षी, पावन-चरित्र, पुण्य-समुद्र, जगदम्बा के भक्त, विनय-धन से युक्त, तेजस्वी नेत्रोंवाले, श्रेष्ठ योगी, बुद्धिमान, अभयदाता, शिवाराधन-तत्पर, उदार तथा धन्य हैं।

माँ के सान्निध्य में (६६)

श्रीमती खिरोदबाला राय

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशो का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

अपने विधवा होने के एक वर्ष पूर्व एक दिन मैंने ढेर सारे पपीते काटकर उनकी सब्जी बनायी थी । उन पपीतों का रस हाथों में लग जाने से उनमें खुजली होने लगी और उँगलियाँ काफी फूलकर कुछ घण्टों के भीतर ही फट गयीं । इससे हाथ में ऐसा भयंकर घाव हुआ कि बहुत चिकित्सा कराने पर भी वह ठीक नहीं हुआ । वह घाव बारह वर्ष रहा । मुझे चम्मच से भोजन करना पड़ता था । बीच बीच में वह थोड़ा कम रहता था, परन्तु जब अधिक रहता था, तो हाथ में जल डालने से माँस तक सड़ जाता था । माँ के पास आकर मुझे एक वर्ष हो गया था, परन्तु मैंने कभी उन्हें अपना हाथ दिखाया नहीं था । मैं अपने इस अनित्य शरीर की बात माँ से नहीं कहूँगी और यह भयानक व्याधि देखकर कहीं उनके शरीर को कोई क्षति न पहुँचे, इसी कारण मैंने इसे उनसे छिपा रखा था । उसमें वृद्धि हो जाने पर मैं माँ के यहाँ नहीं जाती थी । एक दिन मैं बढ़े हुए घाव के साथ ही चली गयी । वहाँ जाकर मैंने माँ को प्रणाम नही किया कि प्रणाम करके चरणधूलि लेते समय माँ कही पकड़ न लें । इसी चिन्ता से मैं परेशान थी । तभी मैंने देखा कि एक विधवा बालिका माँ को प्रणाम करने के बाद हाथ में कपड़ा लपेटकर चरणधूलि ले रही है । यह देखकर मेरे मंन में बड़ा आनन्द हुआ । मैंने भी जाकर माँ को प्रणाम किया और हाथ में वस्त्र लपेटकर उनकी चरणधूलि ली । मेरे प्रणाम करते ही माँ अत्यन्त विस्मित होकर बोलीं, "बहू, हाथ में कपड़ा लपेट कर धूलि क्यों लिया? तुम्हारे हाथ में क्या कोई बीमारी है?"

अब मैं घोर संकट में पड़ी । मेरी छाती धड़कने लगी । मैंने सोचा – उस बालिका से भी तो पूछ सकती थीं । उसे छोड़कर मुझसे ही पूछा – इस प्रकार धूल क्यों लिया? मैं बोली, "हाथ में रोग है ।" उन्होंने कहा, "देखूँ ।" मेरे हाथ देखकर वे इस प्रकार खेद व्यक्त करने लगीं कि सुनकर मैं अवाक् रह गयी । वे बोलीं, "अहा! बेटी, तुम इतने दिनों से यहाँ हो और तुम्हारे हाथ में ऐसी बीमारी है! मैं तुम लोगो की माँ हूँ, तो भी इसके बारे में नहीं जानती थी । बेटी, तुम्हें बड़ा कष्ट है!" उनके पूछने पर कि कितने दिनों से और कैसे यह रोग हुआ है, मैंने सब कुछ बता दिया । माँ बोलीं, "बेटी, मेरी इस समय यह हालत है कि मैं अपने आप में ही डूबी रहती हूँ । तुम लोगों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दे पाती । इसी हाथ से ठाकुर की पूजा करती हो, इसीलिए यह रोग पकड़े हुए है । ठीक है, मेरे साथ आओ । ठाकुर-पूजा का निर्माल्य तथा चरणामृत अभी गंगा में डालने को ले जाने वाले हैं । जल्दी आओ ।" मैं माँ के साथ दूसरे कमरे में गयी । माँ ने कहा, "वह देखो, कमण्डलु में वह सब है; अपना पूरा हाथ इसी में डुबा दो ।" मैंने वैसा ही किया । वे बोलीं, "अब तुम्हारे हाथ में यह बीमारी नहीं रहेगी । तो भी मछली, लहसुन, प्याज आदि में हाथ न लगाकर उनसे जितना भी हो सके दूर रहो । उन्हें बिल्कुल छुए बिना भी तो तुम नहीं रह सकोगी । इन सब को छूने से वह फिर फूट सकता है । ठाकुर-पूजा तो प्रतिदिन करना । इसके थोड़ा फूटते ही ठाकुर का चरणामृत लगाना । इसी से ठीक हो जायेगा । जिस दिन तुमने पपीते काटे थे, उस दिन क्या तुमने नाखून काटे थे?" मैंने कहा, "मुझे याद नहीं है ।" माँ बोलीं, "तुमने नाखून भी काटे थे और पपीतों का रस भी लगा था । दोनों के मिल जाने से ही यह सब हुआ है ।" अपराह्न में उन्होंने अन्य महिलाओं से कहा, "अजी, मैं तुम सभी से कहती हूँ – तुम लोगों के पति, पुत्र तथा तुम लोग स्वयं भी नाई की नहरनी से नाखून मत काटना । इससे बहुत-से भयंकर रोग हो सकते हैं । इस बहू के हाथ में ऐसा हो गया है । वैसे ठाकुर की इच्छा से यह रहेगा नहीं ।"

उस दिन उन्होंने बताया कि एक साथ बैठकर खाने, दो लोगों के एक ही बिस्तर पर सोने तथा एक व्यक्ति के वस्त्र या गमछे का दूसरे द्वारा उपयोग करने के कितने दोष हैं और किस प्रकार एक व्यक्ति के शरीर का भला या बुरा दूसरे के शरीर में संक्रमित हो जाता है । आश्चर्य की बात तो यह है कि मैंने माँ को कभी यह नहीं बताया था कि मेरा जीवन-यापन किस प्रकार होता है और मैं जहाँ रहती हूँ, वहाँ मुझे बाध्य होकर मांस-मछली पकाना पड़ता है । परन्तु माँ ने कहा, "वह सब किये बिना नहीं रह सकोगी, करते ही हाथ फटेगा, परन्तु ठाकुर का चरणामृत लगाने से ठीक हो जायेगा ।" बड़े आश्चर्य की बात यह है कि जिस दिन मैंने चरणामृत में हाथ डुबाया था, उसके अगले दिन से ही मैं जीवन भर के लिए ठीक हो गयी, परन्तु मांस-मछली में हाथ लगाते ही, उसमें फुंसियाँ निकल आतीं, और ठाकुर का चरणामृत लगाने पर एक घण्टे

के बाद ही देखती कि कुछ भी नहीं है। परन्तु उस व्याधि के ठीक होने के बाद ही मैंने माँ से कहा था, "माँ, शरीर की बीमारी दूर कराने मैं तुम्हारे पास नहीं आयी। तुम मुझे इतना देकर ही लौटा नहीं सकोगी।" माँ हँसकर बोलीं, "तुम लोगों का शरीर तो मेरा ही शरीर है। तुम लोगों का शरीर ठीक न रहने से कष्ट होता है, मैं माँ हूँ न!" मेरा संकल्प था कि मैं दैहिक या आर्थिक या अन्य कोई चीज मुख से क्यों, मन में भी नहीं माँगूँगी। भय था कि कहीं माँ वही सब देकर न सन्तुष्ट कर दें। मैं समझ नहीं पा रही थी कि साधना में मेरी उन्नति हो रही है या नहीं, उन्हें यह बताने पर वे कहतीं, "मैं गुरु हूँ, मैं जानती हूँ कि तुम्हारी उन्नति हो रही है या नहीं; तुम भला कैसे समझोगी? सब होगा, सब होगा – भजन की बाधाएँ बाहर में अधिक नहीं, भीतर ही रहती हैं। वे सब ठाकुर का नाम लेते लेते और ध्यान-धारणा करने से एक एक कर दूर हो जाती हैं। तुम अपना कार्य किये जाओ, वे हैं या चली गयीं – इस ओर देखना ही मत।" वे कहतीं, "जैसे नारियल वृक्ष की डाल, समय होने पर वह अपने आप ही गिर जाती है, परन्तु समय न होने पर उसे उखाड़ने के लिए काफी शक्ति लगानी पड़ती है, वैसे ही। समय होने पर सब चले जायेंगे।" उनके जप या ध्यान में डूबे रहने की अवस्था क्यों नहीं आती, यह पूछने पर वे कहतीं, "सब तो कर रही हो, सब हो रहा है। जिस आयु में विधवा होकर जैसे यहाँ आ पहुँची हो, बेटी, वही यथेष्ट है। तुम्हें अधिक कुछ नहीं करना होगा, दिन के अन्त में ठाकुर को प्रणाम कर देने से ही हो जायेगा। आदमी की एक चीज यदि ठीक रहे, तो उसे और कुछ नहीं करना पड़ता। अपने आप ही तुम्हारा सब हो जायेगा।"

दस वर्ष पहले मेरा विवाह हुआ और पन्द्रह वर्ष की आयु में मैं विधवा हो गयी थी। माँ के पादपद्मों में आश्रय लेते समय मैंने उनसे कहा था, "माँ, मैं अपने को तुम्हारे पादपद्मों में सौंपती हूँ, तुम मेरी रक्षा करो।" माँ ने कहा था, "भय की कोई बात नहीं। ठाकुर तुम्हारा हाथ पकड़कर ले जायेंगे।" उनके श्रीमुख से जो कुछ भी निकला है, उनमें से एक भी बात गलत नहीं हुई। इस समय मेरी आयु ६० के आसपास है। माँ के करकमल मेरे सिर पर पड़े हैं, मैंने अपने हाथ-सिर माँ के चरणों पर रखे हैं और इस प्रकार मैं धन्य हो गयी हूँ। "भय की कोई बात नहीं, ठाकुर हाथ पकड़कर ले जायेंगे" – माँ के श्रीमुख से निःसृत इन वाक्यों के आधार पर ही मैंने इतना दीर्घ जीवन बिता दिया, एक दिन भी मेरे मन में किसी भोग की कामना का उदय नहीं हुआ। केवल आनन्द ही आनन्द का भोग करती रही! दीक्षा के दिन के अतिरिक्त उन्होंने किसी अन्य दिन यह नहीं कहा कि मुझे क्या करना होगा; कहतीं कि सब ठाकुर ही करेंगे। हमारे समझने में गल्ती हो सकती है, परन्तु उनकी बातें सत्य हैं। सर्वदा उन्हें न पुकारने पर भी वे आपत्ति-विपत्ति के समय अपने आश्रित सन्तान की रक्षा करती रहती हैं। यह मैंने भलीभाँति समझ लिया है कि उनकी कृपा के अतिरिक्त कोई अपनी बहादुरी से इस संसार-बन्धन पर विजय नहीं पा सकता।

माँ ने ही कहा था, "खाली हाथ ठाकुर-देवता का दर्शन नहीं करना चाहिए।" इसीलिए प्रतिदिन थोड़ा-सा कुछ लेकर ही माँ के पास जाया करती थी। एक दिन माँ ने कहा, "बेटी, तुम्हारे पास रुपये-पैसे नहीं हैं, तुम प्रतिदिन यह सब क्यों लाती हो? एक हरीतकी हाथ में ले आना, उसी से हो जाएगा। मैं तुम लोगों के ही मुख से खाती हूँ, बेटी! तुम लोगों के खाने से ही मेरा खाना भी हो जाता है। ठाकुर के राज्य में आकर मैंने कितना सब खाया है।"

मेरे मँझले भैया को गम्भीर बीमारी हो गयी थी। चिकित्सा के लिए वे कलकत्ते गये थे। डॉ. सर्वाधिकारी उन पर शल्यक्रिया करनेवाले थे। मेरे परिवार के सभी लोग कलकत्ते आये हुए थे। सुना कि इस आपरेशन में रोगी बचेगा या नहीं, इस विषय में डॉक्टर कुछ कह नहीं सकते। मैं मँझले भैया को माँ के पास ले गयी। उस दिन रविवार था। अपराह्न में लड़के प्रणाम करने आये थे। जाते समय मँझले भैया माँ के चरणों में चढ़ाने को फूलों की एक माला ले गये थे। मैंने वह माला देखी नहीं थी। वहाँ जाकर मैं सोचने लगी कि इतने लोगों के साथ वे माँ को प्रणाम करेंगे, मैं पास भी नहीं रह सकूँगी। माँ क्या उनकी ओर ध्यान दे सकेंगी? अस्तु, जब प्रणाम का समय हुआ, तो हम सभी एक कमरे में बन्द हो गये। प्रणाम समाप्त हो जाने के बाद माँ ने राधू तथा मुझे बुलाया। बहुत-से फूल तथा मालाओं को हटाकर रजनीगन्धा की माला को राधू के हाथों में देकर वे बोलीं, "यह बहू के भाई ने मुझे दिया है।" वे बोलीं, "मैंने तुम्हारे भाई को देखा है।" मैं अवाक् रह गयी। मँझले भैया अन्य किसी दिन वहाँ नहीं आये थे; मैं सोचने लगी – वे रजनीगन्धा की माला लाये हैं या नहीं। बहुत-सी मालाओं के बीच मुझे रजनीगन्धा की एक ही माला देखने को मिली। मैंने माँ से कहा, "माँ, इसी के लिए संसार में रहने की इच्छा नहीं है। इन लोगों से दूर रहने के लिए ही मैं तुम्हारे पास इतना रोयी थी। यदि उनकी मृत्यु हो जाय, तो फिर वह सब मुझे ही भुगतना पड़ेगा। माँ, संसारियों के बीच हूँ, इसीलिए तो तुम्हारे चरणों में रहकर भी बच नहीं पाती। अब क्या होगा, क्या करूँ, बताओ?" माँ बोलीं, "तुम्हारा भाई यदि इस आपरेशन में न भी मरे, एक दिन तो मरेगा ही? और उसके बचे रहने से ही तुम्हारा क्या भला होगा? इसलिए इतना चिन्तित क्यों होती हो?" मैंने सोचा – लगता है, इस बार मँझले भैया बचेंगे नहीं। तभी माँ बोल उठीं, "भय की कोई बात नहीं, ठाकुर तो हैं ही। जिस कमरे में आपरेशन होगा, उसमें ठाकुर का एक फोटो रख देना, वे रक्षा करेंगे।"

यह सुनकर घर लौटते ही मैंने सबको बता दिया। सभी कहने लगे, "अब डरने की कोई बात नहीं, जीवन्त काली का स्पर्श कर आया है, भय का तो अब कोई कारण ही नहीं है।" वह आपरेशन एक बहुत बड़ी घटना थी – यथासमय सम्पन्न हो गयी। ठाकुर का चित्र भी रखा गया था, माँ की कृपा से मँझले भैया स्वस्थ होकर गाँव भी लौट गये। इस काली-दर्शन की बात कहने पर मेरे चाचा तथा बड़े भाई ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा – जिन काली की ठाकुर ने स्वयं ही पूजा की थी, उन्हीं काली के चरणों का हमने दर्शन किया है, स्पर्श किया है; हमें अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना होगा। मैं ही सबसे पहले माँ के पास गयी थी। अब माँ की कृपा से इस परिवार के लगभग सभी लोगों ने श्रीरामकृष्ण की शरण ले ली है।

एक दिन अपराह्न में मैं माँ के पास गयी हुई थी। उसी समय एक विधवा माँ का दर्शन करने आयी हुई थीं, जिनके गले में तुलसी का माला और शरीर पर नामावली से युक्त वस्त्र थे। उनके आने के पूर्व से ही श्रीमाँ ने गम्भीर भाव धारण कर लिया था। आने के बाद वे महिला माँ को प्रणाम करने गयीं। माँ बोलीं, "पाँव में हाथ मत लगाना, धरती पर प्रणाम करो।" परन्तु उन्होंने वह बात नहीं मानी और पाँव छूकर ही प्रणाम किया। ठाकुर का चित्र आदि देखकर वे बिल्कुल अवाक् होकर मुझसे बोलीं, "देखती हो न, कितना सुन्दर है!" माँ ने कहा, "उसे क्या दिखाती हो? तुम जिन्हें दिखा रही हो, वह उन्हीं की तो पूजा करती है।" मेरी ओर संकेत करती हुई विधवा बोली, "यह क्या आपकी पुत्री है?" माँ ने कहा, "हाँ, बेटी।" उसने फिर पूछा, "आपके कितने बच्चे-बच्चियाँ हैं?" माँ बोलीं, "पूरे ब्रह्माण्ड में सभी मेरी सन्तानें हैं।" महिला ने कहा, "आपके गर्भ से उत्पन्न हुई सन्तानें कितनी हैं?" माँ ने उत्तर दिया, "वे त्यागी थे।" इस बात को न समझ पाकर उस महिला ने माँ को बिल्कुल परेशान कर डाला। मैं स्वयं भी अपना धैर्य स्थिर नहीं रख सकी। माँ ने मुझसे कहा, "तुम्हीं इसे समझाओ, अब मुझसे नहीं होगा।" तब मैं उससे बोली, "लगता है कि तुम माँ के बारे में कुछ भी नहीं जानती; तो फिर क्या सोचकर तुम माँ को देखने आयी हो? जो लोग माँ का दर्शन करने आते हैं, वे केवल दर्शन तथा प्रणाम ही नहीं करते। माँ के बारे में जानने को बहुत-सी बातें हैं। अनेक पुस्तकों में माँ की बातें हैं, अनेक भक्त हैं, इन सबके द्वारा ही सब कुछ जाना जा सकता है। माँ के बारे में यदि तुम बिन्दु मात्र भी जानती, तो माँ से इतने प्रश्न करने का तुम्हें साहस नहीं होता। जो कहना है, मुझसे कहो, माँ से अब और कुछ मत बोलो।" तो भी वह महिला बोल उठी, "मेरी लड़की यहाँ आती है। उस दिन वह एक बहुत बड़ी मूली लेकर आयी थी।" माँ ने कहा, "कितने ही लोग कितना कुछ देते हैं, उन सबकी क्या मैं खोज-खबर रखती हूँ? तुम्हारी बेटी को मैं नहीं जानती।" इसके बाद वे विधवा चली गयीं। माँ मुझसे बोलीं, "बेटी, थोड़ा-सा पानी लाकर मेरे पाँव धो दो और थोड़ा हवा कर दो।" मैंने वैसा ही किया। ❖(क्रमशः)❖

जीवन क्या है?

भैरवदत्त उपाध्याय

जीवन क्या है? यह प्रश्न हर मानव के सामने चिरकाल से उपस्थित है और वह उसके समाधान में लगा है। मानव जीवन को परिभाषित करने का प्रयास प्रागैतिहासिक काल से ही किया जा रहा है, पर यह एक ऐसा रहस्य है, जिसकी अन्तिम परत तक पहुँचना सर्वथा असम्भव है। चूँकि उसकी जितनी परतें रहस्य के आवरण से खुलती हैं, उससे कई गुनी अधिक उसमें अनखुली रह जाती हैं। जीवन की यह पहेली बुझाने पर और अबूझ बनती है। जीवन वह सागर है, जिसमें उतरने पर गहराई की थाह नहीं मिल सकती और तैरने पर पार नहीं पाया जा सकता। जीवन के अनेक आयाम हैं, जिनका सस्पर्श बुद्धि के किसी भी व्यायाम की पकड़ में नहीं है। जो जितना इसे जीता है, भोगता है, वह उतनी ही इसकी अनुभूति तो करता है, पर उसकी वाणी पर मौन का आवरण चढ़ जाता है। सर्वथा अपरिभाषेय और अव्याख्येय, यह गूँगे का गुड़ है।

जीवन जो भी हो, पर इतना तय है कि यह केवल साँसों का आना-जाना नहीं है। साँस लेना और छोड़ना ही उसकी इयत्ता नहीं है। वह गति है। स्पन्दन है। प्रगति का अनवरत प्रवाह है। यह जिजीविषा है। जीने की अदम्य इच्छा है। यह कला है। कला की मूल चेतना, उद्गम और प्राण है। यह रचना, निर्माण और सृजन है। यह अपने उद्गम से संगम तक की यात्रा करनेवाला निर्झर है, सुगन्धि एव स्मिति की रेखाओं को विखेरनेवाला कोमलता का प्रतीक कण्टकशायी पुष्प है, रजनी रानी की काली चादर के घूँघट से झाँकता सुन्दर मुख-चन्द्र है, कामिनी की आरसी का दर्पण है, पृथ्वीलोक को आलोकित करनेवाला सूर्य है, पीड़ा की रिसती जलधारा को अन्तस्थल में पालनेवाली चट्टान है, प्राणों का संचार करने को आकुल निरन्तर सचरणशील वायु है, शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों में उत्तरोत्तर वृद्धि एवं ह्रास के चक्रों से गुजरनेवाली चन्द्रमा की

कला है, जीवन-मरण के तटबन्धों में बँधी काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि के विवर्तों से गहराती भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख की उर्मियों से उर्मिल, प्रिय-सागर से मिलने को आतुर, सतत प्रवाहिनी सरिता है, अनन्त सम्भावनाओं से संयुक्त आकाश है, लीला और साधना की भूमि है, पीतवसना सौदामिनी के सुनहरे भुजापाश में आबद्ध मानवपक्ष की आशाओं का अमृतवर्षी मेघ है और कर्मों के भाज्य का भजनफल है। पुण्य का सेतु, धर्म-कर्म का क्षेत्र, विषमता की भूमि को समतल करने का साधन और मानवता के शिखर पर चढ़ने की सीढ़ी है।

मनीषियों ने अब तक इसे विभिन्न कोणों से देखा है। इनमें सर्वप्रथम वे प्राचीन ऋषि हैं, जिन्होंने इसे आनन्द का पर्याय माना था। उनके अनुसार यह मधु का उत्स, आनन्द का पर्व और प्रसन्नता का महोत्सव है। व्यष्टि की सीमाओं में भी यह समष्टि की निःसीमता से मण्डित है। यह भूमा है और सुख है – **भूमा वै सुखम्।**

दूसरा दृष्टिकोण दुःखवादी है। इसके अनुसार जीवन का अर्थ है दुःख। **सर्वं दुःखम् – जननं दुःखम् मरणं दुःखम्** – अर्थात् सम्पूर्ण जीवन दुःखमय है, जन्म लेना और मरना भी दुःखपूर्ण है। जीवन दुःखों का सागर है। निशीथ का अन्धकार है। वह फूलों की सेज नहीं, अपितु काँटों का ताज है। जीवनाकाश क्लेशमेघों से आच्छन्न है, जिसमें चपला-सा क्षणिक सुख है। जीवन संघर्ष यानी कलह से पूर्ण है। वह कर्म-बन्धनों से बँधा है। उसमें कर्मवासना है, जो कर्मों की ओर प्रवृत्त करती है। कर्म अरि हैं अर्थात् शत्रु हैं, जिनसे यह आक्रान्त है। वह पापमय है। पापसम्भव और पापकर्मा है।

तीसरी समन्वयात्मक दृष्टि में जीवन सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों का महायोग है। वह रुदन और हास्य के मध्य खिला गुलाब है। राग-विराग, सहकार संघर्ष, आसक्ति-अनासक्ति के द्वन्द्वों की तरंगों पर तैरती नौका है। संसार-सरोवर का यह ऐसा कमल है, जो जन्म-मरण की उभय संध्याओं में होनेवाले विकचन और संकुचन के नियमों में निबद्ध है। जागरण और शयन के हिंडोले में झूलनेवाला गुलदस्ता है।

तत्त्वतः जीवन न तो दुःख का मूल है और न धूपछाँह की भाँति सुख-दुःख के द्वैतभावों से अनुस्यूत है। वह निरपेक्ष रूप से आनन्द का स्वरूप है। जब मानव अमृतस्य पुत्र – अमृत का पुत्र है, तब उसका जीवन निरानन्द कैसे है? अमृत अमृत है। वह विष से प्रभावित नहीं होता, अपितु विष ही उसे पाकर अमृत के सदृश हो जाता है। **जीवेम शतं समाः** – 'सौ वर्षों तक जियें' – कहकर ऋषियों ने दीर्घ जीवन की कामना की थी। जन्मान्तरों की सुस्पष्ट दृष्टि से उसकी शृंखला में अनन्त कड़ियाँ जोड़कर दीर्घ से दीर्घतम जीवन की सम्भावनाओं के द्वार खोले थे। आयुष्मान् तथा चिरंजीवी होने के आशीर्वचनों की परम्परा सस्कृति को प्रदान की थी। यदि जीवन दुःखों का मूल और पापों का बोझ ही होता, तो इसे व्यर्थ ही ढोने के लिए प्रवचना की आवश्यकता ही क्या थी?

स्पष्ट है कि जीवन निष्पाप और निष्कलुष है। यह यज्ञ है, ऐसा यज्ञ, जिसमें सेवा, त्याग और समर्पण के उदात्त भावों का समावेश है। न कर्तृत्व का अहंकार है और न भोक्तृत्व की तृष्णा। कर्म जीवन का शृंगार है। कर्मशून्य या क्रियाहीन जीवन की परिकल्पना दुरूह है। निष्काम और अनासक्त भाव से किया गया यज्ञमय कर्म बन्धन का हेतु नहीं, मोक्ष का द्वार है। यह भोग का साधन नहीं है, किन्तु योग का सोपान है। यह परम कृपालु भगवान की अहैतुकी कृपा का प्रसाद है; जिसे कृतज्ञ और प्रसन्न हृदय से ग्रहण कर उसे सार्थक बनाना है। वह आस्थाओं का पुंज, विश्वासों का कूट, अस्तित्ववादी धारणाओं की राशि, आशाओं का दीप, श्रद्धा का रूप, कर्मठता की मूर्ति और संकल्पों का संकुल है। यह काव्य है। मनोहारी काव्य। जिसका प्राण रस है, आनन्द है। जिसका लक्ष्य सर्वमागल्य है। ज्ञान-कर्म का समन्वयात्मक रूप कलात्मक सौन्दर्य है और हृदय की सदाशयता उदात्त भावात्मक पक्ष है। मनुष्य उसका कवि है। प्रजापति है, जो अपनी रुचि के अनुसार इसे रचने में स्वतन्त्र है। उसकी द्विधात्मक या निषेधात्मक परिभाषाएँ नहीं हो सकतीं।

भगवान महावीर के त्रिरत्नों, महात्मा बुद्ध के अष्टांग योग के सिद्धान्तों और योगिराज कृष्ण के गीतोक्त वचनों को ग्रहण कर, हम अपने जीवन को समाज-रूपी विराट् पुरुष के चरणों में अर्जुन की भाँति आसक्ति और अहं का त्याग कर अर्पित कर दें, तो सम्पूर्ण जीवन एक महोत्सव होगा। उसमें दुःख इसलिए है कि हमने अपने जीवन में मोतियों और ज्वार के दानों को एक साथ महत्व दिया है। मुर्गे से सीख नहीं ली, जो मोतियों को छोड़कर अपने जीवन के लिए आवश्यक केवल ज्वार के दानों को ही चुगता है। विराट्-चेतना का आनन्दधर्मी यह रूप वस्तुतः आनन्द मूलक है। यह स्वच्छ, निर्मल और धौत चदरिया है, जिसे हम ओढ़ तो सकते हैं, पर उसे मैला करने का अधिकार हमारा नहीं है।

****

जीना सीखो (१४)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ट संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

घृणा का नाश

बड़े खेद की बात है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी जातियों के क्रान्तिकारी नेता अपने घृणाभाव को इस आधार पर न्यायोचित ठहराते हैं कि इससे उनकी आत्मधारणा को बल मिलेगा। यह एक खतरनाक दोष की विचित्र सफाई है। यदि मनुष्य को अपने क्षेत्र में उन्नति करके सफलता की चोटी पर पहुँचना हो, तो उसे सच्चा परिश्रम करना चाहिए। प्रगति नि:सन्देह धीमी गति से ही होती है।

इन नेताओं का तर्क है कि यदि दलित लोग अपने शोषकों के विरुद्ध उग्र तथा हिंसक आन्दोलन को छोड़कर गाँधीजी के सत्याग्रह को अपनाएँ, तो वे विकलांग तथा अपंग रह जायेंगे। वे ऊँची जातियों के सांस्कृतिक मूल्यों को नकारकर दलितों की आत्मधारणा को सबल बनाने का दावा करते हैं। इस प्रकार ये नेता अपने संगियों को पथभ्रष्ट करते हैं। बहुसंख्य गोरो की सभा में एक नीग्रो लेखक ने कहा था, "क्या आप जानते हैं कि पाउण्ड तथा इलियट जैसे महान् कवियों की सुन्दर रचना-शैली के आधार पर हमारा उनके प्रति आदर भाव रखने का क्या फल होगा? यह हमारे अपने लिए अपमानजनक है, क्योकि अब तक वे जो भी सांस्कृतिक भाव देते रहे हैं, उसका भाव यही है कि मेरे जैसे लोगों को गुलाम ही रहना चाहिए। इसके पीछे रंगभेद का भाव है। उनकी रचना-शैली के आधार पर उन्हें पसन्द करके मै अपना ही अपमान करूँगा। अत: मैं उक्त साहित्यिक परम्परा को पूर्णरूपेण अस्वीकार करता हूँ।"

जो ज्ञान आत्मविश्वास तथा आशा देकर मनुष्य को पशु स्तर से उठाकर एक सम्मानित मानव के स्तर पर पहुँचा देता है, शोषित एवं दलित वर्ग को अब तक उसमें प्रवेशाधिकार नही था। सत्य है कि इस ज्ञान के संरक्षको ने इसका दुरुपयोग किया और अपने कम भाग्यशाली भाइयों को इसमें भागीदार न बनाकर सेवा का एक महान् अवसर खो दिया। पर अब इन लोगो की मनोवृत्ति में बड़ा परिवर्तन आ चुका है और इस उदात्त ज्ञान का द्वार सबके लिए उन्मुक्त है। अब सभी लोग इसका लाभ उठा सकते हैं। पर वे नेता यदि सोचें कि 'ये हम पर सदियों तक शासन करनेवालों के विचार हैं, अत: इन्हें अपनाना हमारे लिए अपमानजनक है', तो इस 'विद्रोह' भाव से आखिरकार हानि किसकी होगी?

यह सत्य है कि इन नेताओं का मन दबी हुई अव्यक्त भावनाओ तथा वेदनाओं से परिपूर्ण है, परन्तु ये ही भावनाएँ घृणा एवं क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए भी उत्तरदायी हैं।

इन नेताओं की घृणा का शिकार केवल अत्याचारी ही नहीं, बल्कि उनके अपने निर्दोष अनुयायी भी हो जाते हैं, क्योंकि वे उत्कृष्ट विचारधारा से वंचित रह जाते हैं।

उस कटु आलोचना के मूल कारण की खोज के लिए किसी मनोविश्लेषक की जरूरत नहीं है। यह तो उनके द्वारा सतत अनुभूत अपमान, निराशा तथा घृणा की प्रतिक्रिया है। संसार की रीतियों से परिचित एक साधारण व्यक्ति भी इसे समझ सकता है। अत: शताब्दियों से गोरे लोगों के गुलाम रहने के कारण नीग्रो नेता गोरे लोगों द्वारा आविष्कृत औषधियों, यंत्रों, उपकरणों तथा धर्मचर्चा आदि से घृणा करने को विवश हैं। यह असन्तोष गोरे लोगों की उपलब्धियों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण के रूप में विकसित हो सकता है। यह घृणा उस नेता को तो प्रसिद्ध बनाती है, परन्तु क्या यह उसके दीन-हीन अनुयाइयों की सहायता भी कर सकती है?

घृणा की भयानक ज्वाला के फलस्वरूप होनेवाले हृदय-विदारक परिणामों को दर्शानेवाली एक घटना इस प्रकार है –

एक दम्पति की दो सन्तानें थीं, जिनमें बड़ा पुत्र और छोटी पुत्री थी। लड़का १० वर्ष का होकर भी बिस्तर में पेशाब कर देता था। इलाज से कोई लाभ न हुआ। माता-पिता चिन्तित थे। लड़की बुद्धिमान, पढ़ाई में तेज और कार्य में दक्ष थी। जाने या अनजाने माता-पिता को लड़के से निराशा तथा घृणा हो गई। लड़के में हीन-भावना तो थी ही। पढ़ाई में भी वह पिछड़ गया। वह गली के लड़कों का संग करने लगा और आवारागर्दी करने लगा। अब माँ-बाप को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने उसे समझाया-बुझाया, बड़ों से भी सलाह दिलवाई और उस पर बल-प्रयोग भी किया, परन्तु अन्त में सारे प्रयास असफल हो जाने पर वे उसे यह कहकर कोसने लगे, "इस दुष्ट को ब्रह्माजी भी नहीं सुधार सकते।" एक दिन जब माँ उसके समक्ष बेटी के गुणों का बखान करते हुए बारम्बार उसके दोषो का उल्लेख करने लगी, तो वह सहसा क्रोध में आपा खो बैठा और चिल्लाकर कहने लगा कि वह अपनी बहन को मार डालेगा। पिता को लगा कि बेटा पागल हो गया है, अत: उसे पागलखाने में भर्ती करा दिया गया। लड़के की हालत और बिगड़ गई। छह महीने के बाद उसके घर लौटने पर एक अनुभवी बुजुर्ग ने सलाह दी – "इसे सुधारने में हड़बड़ी मत करो। उसे अपना क्रोध और अधीरता मत

दिखाओ। जानकर भी उसके दोषों पर ध्यान न दो। उसमें कुछ अच्छा दिखे, तो बड़ाई करो। उसे ऐसा लगे कि अपने दोषो के बावजूद वह तुम्हारा अपना है। उसके चुने हुए क्षेत्र में सफल होने में उसकी सहायता करो। उसे कोई भी सफलता मिलने पर उसकी प्रशंसा करो। आत्मसुधार की उसकी क्षमता में अपना पूर्ण विश्वास जताओ। कभी उसके अवगुणों तथा बहन के सद्गुणों की तुलना मत करो। और कभी उसकी निन्दा मत करो।''

क्या यहाँ पर हमें उस सम्बन्ध की झलक नहीं मिल जाती, जो एक दलित तथा एक अत्याचारी के बीच होना चाहिए? इसमें माता-पिता और पुत्र के बीच आपसी सन्देह, घृणा तथा तिरस्कार ही उनके बीच संघर्ष के कारण थे। बालक ने अपनी बहन के प्रति जो घृणाभाव पाला, वह उसके अपने अस्तित्व के लिए जरूरी हो सकता है, पर क्या हम इसे एक स्वस्थ मनोवृत्ति कहेंगे? क्या यह एक तरह की मनोविकृति नहीं है?

प्रेम की प्रतिध्वनि

हममें ऐसे सैकड़ों शुद्धाचारवादी लोग हैं, जो गल्ती करनेवालों तथा सन्मार्ग से विचलित होनेवालों को बुरा कहकर उनका अपमान करते रहते हैं। पर उनके आत्मविश्वास तथा स्वाभिमान को चोट पहुँचाए बिना प्रेम तथा धैर्यपूर्वक उनके दोष बताकर उन्हें सही मार्ग पर लाने की क्षमता रखनेवाले हममें से कितने हैं? हमारे शिक्षकों तथा अभिभावकों में से कितने इस प्रकार उनकी सहायता कर सकते हैं? बच्चों से गल्ती हो जाने पर उनके माता-पिता क्रोधित होकर – 'ऐसा मत करो' – बस, इतना कहकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। इतने से ही बड़े अपनी जिम्मेदारी पूरी मान लेते हैं। ऐसे अनेक लोग हैं, जो किसी के थोड़ा-सा फिसलने पर, उसे और भी नीचे धकेलते है और कटाक्ष तथा कटूक्तियों के द्वारा उसे दबाये रखते हैं। अपनी बनावटी सहानुभूति के साथ वे कहते हैं, "ओह, कितना बुरा हुआ!" खैर, बड़ों के इस भाव के लिए उन्हें दोष देने से भी कोई लाभ नहीं है। ऐसा शायद वे अपनी आदत के चलते करते हों। आज की निर्दयी सास भी तो कभी बहू थी और उसने भी अपनी सास को झेला होगा; अब वह अपनी नई बहू की ओर अपने तीर साध रही है। छात्रावास के पुराने छात्र नये छात्र के रूप में प्राप्त हुई यातनाओं को याद रखते हैं और उसका प्रतिकार वे नए छात्रों से लेते हैं। कोई भी शिक्षक अपने विद्यार्थी-जीवन में बेंत से पिटना पसन्द नहीं करता था, पर इसे भूलकर वह इस पाशविक परम्परा को जारी रखता है। सिद्धान्त के रूप में तो सभी शिक्षक धैर्य तथा प्रेम को ही अपना सर्वोत्तम साधन मानते हैं, परन्तु खेद की बात यह है कि उनका प्रयोग कोई नहीं करता। बड़ों के प्रति विनय और छोटों के प्रति अहंकार तथा तिरस्कार दिखाना – ऐसी मानसिकता प्राय: उन समाजों में देखने को मिलती है, जो लम्बे अर्से तक जमींदारी-प्रथा या पराधीनता में रहे हों।

भारत से लौटे एक पश्चिमी पर्यटक ने अपना अनुभव इन शब्दों में बयान किया, "भारत में मैंने सर्वत्र देखा कि यहाँ के लोग अन्य व्यक्ति के साथ भाई-चारे या समानता के भाव से नहीं मिलते, बल्कि वे उसके पद की उत्कृष्टता या निकृष्टता देखकर तदनुसार उसके साथ व्यवहार करते हैं।" वैसे आज के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक परिवेश में जीवन के हर क्षेत्र में समता का आचरण सम्भव नहीं है, पर देखने में आता है कि हमारे बुद्धिजीवी समतावादी क्रान्तिकारी भी अपने अनुयायियों के साथ शासक-श्रमिक का सम्बन्ध रखना चाहते हैं। व्यावहारिक कार्यों का अनुभव न रखनेवाले हमारे अनेक बुद्धिजीवी लोग भी सलाह-मशवरा, सहयोग तथा उत्तरदायित्व में बँटवारे की जगह ऐसी मनोवृति अपनाने से होनेवाली हानि को नहीं समझते। वे जानकर भी इसे करना नहीं चाहते और यदि करना चाहें, तो भी इसके लिए उनमें मनोबल नहीं होता।

मेरे सुपरिचित एक सज्जन एक कार्यालय के प्रमुख अधिकारी थे। वे बड़ी भावुकतापूर्वक समाज-सुधार तथा जातिभेद को दूर करने की बातें करते थे। मुझे लगा कि वे इन विषयों पर चर्चा तो बहुत करते हैं, परन्तु अपने कार्यस्थल में भी उन्होंने इसे क्रियान्वित नहीं किया है। मैंने पूछा कि क्या उसने कभी अपने ही कार्यालय के सभी कर्मचारियों की सभा बुलाई है? उस दफ्तर में हर पद से जुड़ी हुई प्रतिष्ठा सच्चे भाईचारे के भाव के साथ एक-दूसरे के साथ मिलने-जुलने में बाधक थी। वहाँ परस्पर प्रेम, विश्वास तथा सहयोग पर आधारित परिवार जैसे सम्बन्धों की जगह विभागों के प्रमुख आपस में ही मिलते थे और अपने अधीनस्थों से प्राय: कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे।

केवल पीड़ितों को ही नहीं, अत्याचारियों को भी शिक्षण तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता है। केवल साधारण लोगों को ही नहीं, नेताओं को भी और मात्र अशिक्षितों को ही नहीं, शिक्षितों को भी इनकी आवश्यकता है।

एक धनी जमींदार की कोठी के बाग के एक कोने में एक भूखी बिल्ली दुबकी हुई बैठी थी। उसे बड़ी भूख लगी थी, परन्तु वह जहाँ कभी भी खाने के लिए गई, उसे खदेड़ दिया गया। भय तथा निराशा से ग्रस्त होकर वह इस कोने में आ बैठी थी। परन्तु उस घर के बच्चे पशु-पक्षियों को दया और प्रेम से खिलाया करते थे। वे लोग बिल्ली की हालत पर तरस खाकर भोजन लेकर उसके पास गए। किन्तु बिल्ली हिली नहीं। भूखी होकर भी उसने खाने को छुआ तक नहीं। बच्चों के समीप आने पर वह डरकर गुर्राने लगीं। बच्चे डरकर घर के अन्दर चले गये और बिल्ली को देखने लगे। चारों ओर

(शेष पृष्ठ ८० पर)

ईसप की नीति-कथाएँ (१४)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी है। – सं.)

सिंह, चूहा और लोमड़ी

ग्रीष्म काल की गरमी से थककर एक सिंह अपनी माँद में जाकर गहरी नींद में सो रहा था। एक चूहा उसके अयाल तथा कानों के ऊपर से होकर दौड़ा, जिससे उसकी निद्रा भंग हो गयी। जागने के बाद वह आग बबूला होकर दहाड़ने लगा। उसने उस चूहे को पकड़ने के लिए अपनी माँद का कोना कोना छान मारा। एक लोमड़ी उसकी यह हालत देखकर बोली, "अच्छे शेर हो तुम! एक चूहे से डर गये!" सिंह ने कहा, "मैं चूहे से नहीं, बल्कि उसकी धृष्टता तथा अशिष्टता से डरता हूँ।"

छोटी-सी धृष्टता भी बड़ा अपराध बन सकती हैं।

अहंकारी कौआ

एक बार ब्रह्माजी ने पक्षियों के लिए एक राजा नियुक्त करने का निर्णय लिया और उन्होंने इसके लिए घोषणा करा दी कि सभी पक्षी एक विशेष दिन उनके सामने उपस्थित हों, ताकि वे उनमें से सर्वाधिक सुन्दर पक्षी को उनका राजा बना सके। कौआ अपनी कुरूपता के बारे में जानता था, इसलिए वह खेतों तथा जंगलों में घूम-घूमकर अन्य पक्षियों के गिरे हुए पंख एकत्र करता रहा। उसने उन पंखों को अपने सारे शरीर से चिपका लिया। उसे आशा थी कि इस प्रकार वह सबसे सुन्दर पक्षी बन जायेगा। जब वह निर्धारित दिन आ पहुँचा और सारे पक्षी ब्रह्माजी के सम्मुख एकत्र हुए, तो कौए ने भी अपनी रंगबिरंगी वेशभूषा में स्वयं को प्रस्तुत किया। ब्रह्माजी उसके पंखो को देखकर मुग्ध हो गये। जब उन्होंने उसे राजा नियुक्त करने का प्रस्ताव रखा, तो सभी पक्षियों ने इसका जोरदार विरोध किया और उसके शरीर से अपने अपने पंख खीच लिए। अन्त में कौआ मात्र कौआ बनकर रह गया।

बाहरी दिखावे के द्वारा अधिक काल तक सबको बुद्धू नहीं बनाया जा सकता।

गड़ेरिया और जंगली बकरियाँ

शाम को अपनी बकरियों को हाँककर बाड़े की ओर ले जाते हुए गड़ेरिये ने देखा कि कुछ जंगली बकरियाँ भी उसकी रेवड़ में शामिल हो गयी हैं। उसने रात भर के लिए उन्हें भी अपनी बकरियो के साथ बाड़े में बन्द कर दिया। अगले दिन बड़े जोर का हिमपात हुआ, जिसके फलस्वरूप वह बकरियों को उनके नियमित चरागाह में नहीं ले जा सका, मजबूर होकर उसे उस दिन उन्हें बाड़े में ही रखना पड़ा। उसने अपनी बकरियों को जीवन-धारण के लिए जितना आवश्यक था, केवल उतना ही भोजन दिया; परन्तु अपरिचित बकरियों की उसने अच्छी आवभगत की। उसे आशा थी कि इस स्वादिष्ट भोजन पर मुग्ध होकर वे बकरियाँ वहीं ठहर जायेंगी और वह उन्हें अपनी सम्पत्ति बना लेगा। बर्फ पिघल जाने पर वह उन्हें चराने के लिए बाहर ले गया। जंगली बकरियाँ जितनी तेजी से हो सका, पहाड़ियों की ओर जाने लगीं। गड़ेरिया उन्हें बुरा-भला सुनाते हुए बोला कि हिमपात के दौरान उसने अपनी बकरियों से भी ज्यादा अच्छी तरह उनकी देखभाल की थी, पर वे अकृतज्ञ भाव से उसे छोड़कर चली जा रही हैं। उनमें से एक बकरी पीछे मुड़कर बोली, "इसी कारण तो हम लोग थोड़ा ज्यादा ही सावधान हो गयी हैं; क्योंकि यदि कल तुमने हम लोगों की अपनी पुरानी बकरियों से भी ज्यादा आवभगत की, तो फिर यह भी स्पष्ट है कि हमारे बाद जो बकरियाँ आयेंगी, उनकी तुम हमसे भी ज्यादा देखभाल करोगे।"

नये मित्र मिल जाने पर हमारे लिए तत्काल ही पुराने मित्रों की अवहेलना करना उचित नहीं है।

शैतान कुत्ता

एक कुत्ता किसी भी आगन्तुक को देखकर चुपचाप उसके पीछे पहुँच जाता और अकारण ही उसे काट बैठता। शिकायतें सुनते सुनते उसका मालिक परेशान हो उठा। उसने इस समस्या से निपटने के लिए एक तरकीब सोची। उसने एक घण्टी लाकर कुत्ते के गले में बाँध दिया, ताकि उसके किधर भी निकलने से लोगों को उसकी उपस्थिति की सूचना मिल जाय। कुत्ता इस घण्टी को अपना आभूषण समझकर बड़ा गर्वीला हो गया। अपने अहंकार का प्रदर्शन करने के लिए वह उसे बजाते हुए पूरे बाजार में घूमा करता था। एक दिन एक वयोवृद्ध कुत्ता उससे बोला, "तुम इतने अकड़कर अपना दिखावा क्यों करते हो? जानते हो, जो घण्टी तुम गले में लटकाये घूमते हो, वह कोई श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं, बल्कि उल्टे मानो सभी लोगों के लिए यह घोषणा है कि वे तुम्हारे जैसे दुष्ट तथा अशिष्ट कुत्ते से दूर रहें।

मूर्ख अपनी कुख्याति को प्राय: सुख्याति समझ बैठते हैं।

दो पत्नियों वाला व्यक्ति

मध्य आयु के एक व्यक्ति के सिर के बाल पकने आरम्भ हो गये थे। उसकी दो पत्नियाँ थीं, जिनमें से एक युवा तथा दूसरी प्रौढ़ थी। प्रौढ़ स्त्री अपने पति की कम आयु के कारण

लज्जित हो जाती थी । इस कारण जब कभी पति उसके पास आता, तो वह उसे भी प्रौढ़ दिखाने के लिए उसके कुछ काले बाल उखाड़ डालती थी । दूसरी ओर उसकी युवा पत्नी भी एक वृद्ध की पत्नी कहलाने से संकुचित होकर उसके आने पर उतने उत्साह के साथ उसके सफेद बालों को उखाड़ डालती थी । इस प्रकार इन दोनों पत्नियों की स्पर्धा में थोड़े दिनों बाद उसके सिर पर एक भी बाल नहीं बचा ।

जो लोग सबको प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं, वे न सबको सन्तुष्ट कर पाते हैं और न अपना भला ही कर पाते हैं ।

लड़ाकू मुर्गे और गरुड़

अपने क्षेत्र पर अधिकार के लिए दो मुर्गे बड़ी उग्रतापूर्वक लड़ रहे थे । आखिरकार एक मुर्गे की विजय हुई और उसने दूसरे को वहाँ से खदेड़ दिया । हारा हुआ मुर्गा चुपचाप जाकर एक कोने में छिप गया और जीता हुआ मुर्गा उड़कर एक ऊँची दीवाल पर चढ़कर आनन्दपूर्वक अपने पंख फड़फड़ाते हुए पूरी आवाज में बांग देने लगा । आकाश में उड़ते हुए एक गरुड़ की दृष्टि उसकी ओर आकृष्ट हुई और वह झपट्टा मारकर उसे अपने पंजों में पकड़कर उठा ले गया । हारा हुआ मुर्गा अपने कोने से तत्काल बाहर निकल आया और उस क्षेत्र का निर्विरोध अधिकारी हो गया ।

अहंकार के सिर उठाने पर विनाश का आक्रमण होता है ।

युद्ध का और कोल्हू का घोड़ा

एक युद्ध के घोड़े के वृद्ध हो जाने पर उसे लड़ाई के मैदान से हटाकर कोल्हू में जोत दिया गया । कोल्हू में तेल पेरने को मजबूर हो जाने पर वह अपने भाग्य को कोसने और अपनी पुरानी स्थिति को याद करते हुए कहने लगा, "ओ तेली भाई, जब पहले मुझे लड़ाई के मैदान में जाना पड़ता था, तो मुझे मुख से लेकर पूँछ तक सजाया जाता था और एक नौकर सर्वदा मेरी देखभाल में लगा रहता था; और अब मुझे लगता है कि क्यों मैंने युद्ध का मैदान छोड़कर कोल्हू में जोता जाना स्वीकार किया!" तेली बोला, "बीती बातों को याद करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि मनुष्य के भाग्य में उलट-फेर तो आते ही रहते हैं; वह जब जिस भी रूप में आये, उसे स्वीकार कर लेने में ही शान्ति है ।

कहा भी है – बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेहु ।

लोमड़ी और बन्दर

जानवरों की एक सभा में एक बार एक बन्दर ने नाच दिखाकर उन सबको इतना प्रसन्न कर लिया कि उन्होंने मिलकर उसे अपना राजा चुन लिया । एक लोमड़ी को उसका मान-सम्मान देखकर ईर्ष्या हो गयी । उसने एक फन्दे में मांस का एक टुकड़ा पड़ा देखा । वह बन्दर को बहलाकर वहीं ले गयी और उसे बताया कि उसे यह चीज वहीं पड़ी हुई मिली, अतः उसे सरकारी खजाने का हिस्सा मानकर राजा उसे स्वीकार कर ले । बन्दर लापरवाही के साथ उस मांसखण्ड के पास पहुँचा और फन्दे में जकड़ गया । इस प्रकार जान-बूझकर फँसाये जाने पर जब वह लोमड़ी को भला-बुरा कहने लगा, तो उसने उत्तर दिया, "रे बन्दर, क्या इतनी-सी बुद्धि लेकर ही तू सारे पशुओं का राजा बनने चला था?"

घोड़ा और उसका सवार

एक घुड़सवार सैनिक अपने घोड़े की बड़ी अच्छी देख-भाल किया करता था । जब तक युद्ध चलता रहा, वह सभी संकटों के दौरान अपने घोड़े को ही अपना सहयोगी मानता रहा और उसे बड़ी सावधानीपूर्वक भूसा और अनाज खिलाया करता था । परन्तु युद्ध समाप्त हो जाने के बाद वह उसे खाने को केवल भूसा देता और उसे लकड़ी आदि ढोने के काम में लगाता । इस प्रकार अब घोड़े को बड़ा परिश्रम करना पड़ता और उसके साथ दुर्व्यवहार भी किया जाता । कुछ काल बाद दुबारा युद्ध छिड़ा । इस बार बिगुल बजाकर बुलाये जाने पर, घोड़े को भारी जिरह-बख्तर से लैस करने के बाद जब सैनिक उस पर सवार हुआ, तो घोड़ा इस बोझ को सहन नहीं कर सका और सीधे धरती पर लोटकर अपने मालिक से बोला, "अब आपको पैदल ही युद्ध में जाना होगा, क्योंकि आप मुझे एक घोड़े से गधे में तब्दील कर चुके हैं और आप भला कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि मैं क्षण भर में ही एक गधे से घोड़े में रूपान्तरित हो जाऊँ ।"

बृहस्पति और बन्दर

बृहस्पति ने जंगल के सभी जानवरों के बीच यह घोषणा करवा दी कि जिसका बच्चा सबसे सुन्दर सिद्ध होगा, उसे एक विशेष पुरस्कार दिया जायेगा । बाकी जानवरों के साथ एक बन्दरिया भी आयी और उसने इनाम के प्रत्याशी के रूप में बड़े दुलार के साथ एक नकचिपटा, बिना बाल का, कुरूप बच्चा सामने रख दिया । इस प्रकार उसके बच्चे की प्रस्तुति पर बाकी सभी जानवर हँसने लगे । इस पर वह दृढ़ता -पूर्वक बोली, "मुझे नहीं मालूम कि बृहस्पति मेरे बच्चे को पुरस्कार देंगे या नहीं; परन्तु कम-से-कम अपनी माँ की दृष्टि में तो यही सबसे प्यारा, सबसे होशियार और सबसे सुन्दर बच्चा है ।"

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अमेरिका की ओर प्रस्थान करने के पूर्व स्वामीजी ने कई वर्षो तक उत्तर से लेकर दक्षिण भारत का सुदीर्घ भ्रमण किया था। उनके जीवन के इस काल की अनेक बाते अज्ञात या अल्पज्ञात हैं। यहाँ पर हमने विभिन्न अंग्रेजी, बँगला, मराठी तथा गुजराती ग्रंथों के आधार पर उनके महाराष्ट्र तथा वहाँ के निवासियों के साथ स्वामीजी के सम्पर्क का विवरण देने का प्रयास किया है। कुछ नवीन जानकारियाँ भी सम्मिलित हैं।)

महाबलेश्वर की ओर

१८९२ ई. के प्रथम चार माह गुजरात में बिताने के पश्चात् स्वामीजी महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध ग्रीष्मावास महाबलेश्वर आये। २६-४-९२ को बड़ौदा से एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा है, "आज शाम को मैं बम्बई जा रहा हूँ।" इससे लगता है कि वे २६ को बड़ौदा से चलकर बम्बई होते हुए सीधे २८ को महाबलेश्वर पहुँचे होंगे। स्वामीजी की पुरानी जीवनियों में लिखा है कि एक दिन वहाँ के राजपथ पर उनकी सहसा लिमड़ी के ठाकोर साहेब से भेंट हो गयी और वे आग्रहपूर्वक स्वामीजी को अपने बँगले पर ले आये। परन्तु किसी किसी ने यह अटकल लगायी है कि स्वामीजी का महाबलेश्वर जाकर ठाकोर साहेब का आतिथ्य-ग्रहण पूर्वनियोजित था, क्योंकि सम्भव है कि उन्होंने उस वर्ष अप्रैल के प्रारम्भ में ही गर्मी का मौसम महाबलेश्वर में बिताने का निश्चय कर रखा हो और तदनुसार उन्होंने स्वामीजी से भी वहाँ आकर निवास करने का निमंत्रण दिया हो। या कहीं यह भी लिखा है कि बड़ौदा में स्वामीजी को ज्ञात हुआ कि लिमड़ी के ठाकोर साहेब महाबलेश्वर में हैं, अत: वे उनसे मिलने हेतु वहाँ चले गये।

परन्तु बाद में २२ अगस्त १८९२ को स्वामीजी द्वारा बड़ौदा के श्री हरिदास बिहारीदास देसाई के नाम लिखे पत्र से लगता है कि सचमुच ही यह भेंट अप्रत्याशित थी। स्वामीजी ने लिखा था, "मेरे यह सूचित करने पर कि महाबलेश्वर में मुझे लिमड़ी के ठाकोर साहेब के पास आश्रय मिल गया है, शंकर पाण्डुरंग ने जो कुछ लिखा था, मैं उसी को उद्धृत करना हूँ, 'मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपको वहाँ लिमड़ी के ठाकोर साहेब मिल गये हैं, नहीं तो आप काफी परेशानी में पड़ जाते, क्योंकि हमारे मराठा लोग गुजरातियों के समान इतने कृपालु नही हैं।'"[१]

१८९६ ई. में प्रकाशित श्री बसन्तजी राघवंजी जोशी द्वारा लिखित 'श्री यशवंत जीवनचरित्र' नामक गुजराती ग्रन्थ में ठाकोर साहेब की डायरी से काफी लम्बे उद्धरण दिये गये है। उनसे ज्ञात होता है कि वे २४ अप्रैल को ही महाबलेश्वर पहुँचे और २५ तारीख से उन्होंने डायरी में स्वामीजी के मतों का उल्लेख करना शुरू कर दिया है। तो क्या स्वामीजी २५ को ही वहाँ पहुँच चुके थे? यदि ऐसा हो तो उनके बड़ौदा से लिखे पत्र में दिनांक की भूल होगी। या यह भी सम्भव है कि ठाकोर साहेब ने अपनी पूर्वस्मृति के आधार पर स्वामीजी के मत का उल्लेख किया हो। अस्तु, स्वामीजी ने बम्बई से पूना जानेवाली रेलगाड़ी से दो बार यात्रा की थी। पहली बार अप्रैल के अन्त में महाबलेश्वर जाते समय और दूसरी बार लोकमान्य तिलक के साथ सितम्बर के अन्त में। स्वामीजी के प्रारम्भिक जीवनीकारों को यह तथ्य ज्ञात न होने का कारण उन्होंने दोनों यात्राओं के दौरान हुई घटनाओं का सम्मिश्रण कर डाला है।

रेलयात्रा के समय पूना के कुछ युवकों के साथ वाद-विवाद की सुप्रसिद्ध घटना उनकी पहली यात्रा के दौरान नहीं हुई थी। इस निष्कर्ष के कई कारण हैं। प्रथमत: तो लोकमान्य तिलक के अपने संस्मरणों में इस घटना का उल्लेख नहीं है। द्वितीयत: स्वामीजी के कनिष्ट भ्राता श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने भी अपनी बँगला पुस्तक 'स्वामी विवेकानन्देर जीवनेर घटनावली' (भाग-२, पृ. १५५) में इस घटना का उल्लेख करते हुए तिलक की उपस्थिति नहीं दर्शायी है और तृतीयत: १९२६ ई. में जब स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी शिवानन्द बम्बई में आये थे, तो कुछ पुराने संस्मरण बताते हुए स्वामीजी की महाबलेश्वर-यात्रा का वर्णन करते हुए ही उन्होंने इस घटना का उल्लेख किया। स्वामी शिवानन्द जी ने कहा था –

"यहाँ (बम्बई) में रहते रहते स्वामीजी पूना और मलाबार आदि स्थानों में भी घूमते रहे। वे प्राय: रेलगाड़ी पर नहीं चढ़ते थे; किन्तु यदि चढ़ते, तो केवल पहले दर्जे में ही। किसी के रुपया-पैसा देने पर लेते न थे। बहुत आग्रह करने पर कहते, 'अच्छा, तो एक पहले दर्जे की टिकट खरीद दो।' उनका पेट अच्छा न था; बार बार शौच जाते थे और देरी सही नही जाती थी। पहले दर्जे में इसकी बड़ी सुविधा रहती है। एक बार वे निमन्त्रित होकर शायद लिमड़ी-राजा के यहाँ जा रहे थे, वे पहले दर्जे में एक पूरी सीट पर बनियाइन पहने लेटे हुए थे। उसी डब्बे में वहाँ के कुछ धनी-मानी व्यक्ति भी चढ़े। उन्हें एक संन्यासी का पूरी बेंच पर अधिकार करना सहन नहीं हुआ और वे अंग्रेजी में आपस में बहुत-सी बातें कहने लगे। संन्यासियों ने भारत का नाश कर दिया है, इत्यादि अनेक प्रकार के अपशब्द कहते रहे। इधर स्वामीजी मजे में लेटे हुए सब बातें सुनते जा रहे थे, अन्त में उन लोगों के वाद-विवाद ने इतना जोर पकड़ा कि स्वामीजी और अधिक चुप न रह सके। वे झटपट उठकर बैठ गये और उन लोगों के साथ बहस शुरू कर दी। उन्होंने कहा, 'आप लोग कहते क्या हैं?

१. Complete Works, Vol 8, P. 287

संन्यासियों ने भारतवर्ष का नाश किया है या बचा रखा है? बुद्ध, शंकर, चैतन्य – ये लोग क्या थे और भारतवर्ष के लिए इन लोगों ने क्या किया, थोड़ा सोचिए तो! इस प्रकार उन्होंने ऐतिहासिक उदाहरण देकर उन्हें कायल कर दिया कि संन्यासियों ने ही भारत को बचा रखा है और क्रमश: उनकी हर बात का इतना सुन्दर उत्तर दिया कि वे लोग सुनकर अवाक् रह गये। उनकी विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी और दलीलें सुनकर उन लोगों में जो प्रधान व्यक्ति थे, वे तो इतने चकित हुए कि अन्त में उन्होंने उनको अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रण दे दिया। स्पष्ट था कि स्वामीजी उनका वह निमंत्रण स्वीकार न कर सके, क्योंकि तब वे लिमड़ी के राजा के अतिथि होकर जा रहे थे। लिमड़ी के राजा की स्वामीजी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। स्वामीजी एक समय पूना में भी उतरे थे।"[२]

महाबलेश्वर पहुँचकर स्वामीजी ने ठाकोर साहेब यशवन्त सिंह जी के साथ एक माह से भी अधिक काल वहाँ बिताया था। वहाँ रहते समय सम्भव है स्वामीजी आसपास के स्थानों का परिदर्शन करने भी गये हों। मराठी के साहित्यसम्राट् श्री नरसिंह चिंतामन केलकर से ऐसा संकेत मिलता है कि इन दिनों विभिन्न स्थानों से गर्मी बिताने के लिए वहाँ आये हुए अनेक बुद्धिजीवी भी स्वामीजी के साथ चर्चा में भाग लेते थे। उन्होंने अपने एक व्याख्यान के दौरान बताया था कि सतारा में पढ़ाई करते समय जब वे अपनी कानून की परीक्षा की तैयारी में लगे थे, तभी वहाँ के कुछ वकील गर्मी की छुट्टियाँ बिताने महाबलेश्वर गये थे। लौटकर उन लोगों ने कहा, "वहाँ पर हमारी एक तरुण तेजस्वी बंगाली संन्यासी से भेंट हुई। उनकी अंग्रेजी बड़ी मधुर तथा मोहक है और दर्शन-विषयक उनके विचार भी हमें बड़े उच्चकोटि के एवं बुद्धिमत्तापूर्ण लगे। हमने उन्हें सतारा आने का निमंत्रण दिया है।"[३] परन्तु आखिरकार वे आ नहीं सके और केलकर जी को उन्हें प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य नहीं मिल सका।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि ठाकोर यशवंत सिंह जी की जीवनी में उद्धृत उनकी दैनन्दिनी में २५ अप्रैल से १३ जून तक स्वामीजी का उल्लेख तथा उनके साथ होने वाली चर्चाओं का विवरण प्राप्त होता है। इनमें से अधिकांश महाबलेश्वर में तथा अन्तिम कुछ दिनों की चर्चाएँ सम्भवत: पूना में हुई थीं। यह विवरण काफी लम्बा है, तथापि चूँकि अब तक यह पूरा-का-पूरा गुजराती भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ है, अत: हम उसे यहाँ पर उद्धृत करना चाहेंगे। स्मरणीय है कि स्पष्ट रूप से यह समझ में नहीं आता कि इस अनुलिखन में कौन से वाक्य स्वामीजी के हैं और कौन से ठाकोर साहेब के स्वयं के। हो सकता है कि प्रतिदिन की चर्चा के बाद ठाकोर साहेब अपनी समझ के अनुरूप उन्हें स्वभाषा में लिपिबद्ध कर लेते हों। मूल ग्रन्थ से हिन्दी अनुवाद के समय हमने इसे कालक्रम से सजा लिया है। उपरोक्त ग्रन्थ के प्रासंगिक अंश निम्नलिखित हैं –

"दिनांक २४-४-९२ को नामदार ठाकोर साहेब सर श्री यशवंत सिंह जी बहादुर महाबलेश्वर पधारे। वहाँ उनका तीन महीने (?) निवास हुआ। उस समय वहाँ उनका स्वामी श्री विवेकानन्द के साथ मिलन हुआ! और उनके साथ अनेक बार आत्मज्ञान की चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ।"

दिनांक २५-४-९२ को 'नोंदपोथी मे लिखा है – "प्रकृति अनादि है, शुद्ध-चैतन्य-रूप पुरुष (परमात्मा) भी अनादि है। प्रकृति द्रव्य के तत्त्वों का शुद्धचैतन्यरूप पुरुष के साथ सम्पर्क होने से, इस शुद्धचैतन्यरूप परमात्मा की इच्छा से अगम अलौकिक महाचित्शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर प्रकृति या शक्ति (जिसे कुछ तत्त्ववेत्ता मिश्रित चैतन्य भी कहते हैं) और शुद्ध चैतन्य (चिन्मात्र) मिलने से जीवात्मा की सृष्टि हुई है। स्वामी श्री दयानन्दजी ने जीव, ईश्वर तथा माया – इन तीनों को अनादि कहा है। परन्तु स्वामी श्री विवेकानन्द के मतानुसार प्रकृति एवं पुरुष ये दोनों ही अनादि हैं और इन्हीं के योग से कार्य-कारण का स्वरूप स्थिर हुआ है और उसी को जीव मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। मोहलुब्ध होना प्रकृति का और केवल साक्षीभूत रहना पुरुष का लक्षण होने से ये दोनों लक्षण जीव में आये हुए प्रतीत होते हैं। जीव में मोहलुब्धता रूपी दोष को देखकर इसे प्रकृति-पुरुष से भिन्न अनादि मानना उचित नहीं। क्योंकि साक्षीभूत होकर निर्लिप्त तथा निर्विकार रहने योग्य शुद्धता के तत्त्व भी उसमें प्राप्त होते हैं। ऐसा होने से जीवात्मा मोहलुब्धता को त्यागकर अर्थात् प्रकृतिरूपी महामाया के आवरण से मुक्त हो अपनी शुद्धता के तत्त्वों के कारण ज्ञान के द्वारा परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप में विलीन हो सकता है। तात्पर्य यह कि अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर परमात्मा की सिद्धि कर सकता है।"

दि. २८-४-९२ को 'नोंदपोथी' में इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है – "मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में जो चलन आदि क्रियाएँ नजर आती हैं, वे जीव की नहीं, अपितु ईश्वर से प्राप्त प्रेरणाशक्ति है। जीव तो केवल मनुष्यों में ही है। उक्त विचार मुझे अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि पशु-पक्षियों में भी अपनी रक्षा करने का भाव होता है। पशु-पक्षियों को कोई मारे, तो वे चीखते-चिल्लाते हैं; स्वयं ही ठण्ड लगे तो धूप में और गर्मी लगे तो छाये में चले जाते हैं। भूख लगने पर पशु-पक्षी अपना अपना आहार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनमें मनुष्यों के समान ही इच्छा तथा ज्ञान दोनों हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जिसमें इच्छा तथा ज्ञान हो, उसे निर्जीव कहना भूल है। प्राणीमात्र में ही जीव है। मनुष्यों तथा

२. धर्मप्रसंग में स्वामी शिवानन्द (द्वि.सं.) नागपुर, पृ. १०२-३

३. समग्र न. चि. केलकर (मराठी ग्रन्थ) से उद्धृत

पशु-पक्षियों के मात्र शरीर तथा क्रियाओं में बड़ा भेद दीख पड़ता है । बड़ा भेद दीख पड़ने के बावजूद सभी जीवों में कोई भेद नहीं है । शरीर तथा क्रियाओं में जो भेद हैं, वे उनके उत्तम-मध्यम तथा कनिष्ठ प्रकार के स्थूल सम्बन्धों के आधार पर हुए हैं । स्थूल शरीर तथा क्रियाओं में कर्मों के अनुसार परिवर्तन होता है और इस परिवर्तन के अनुसार ज्ञानशक्ति में भी ह्रास या वृद्धि होती जाती है । सूर्य, विद्युत, मशाल तथा दीपक की अग्नि में कोई भेद नहीं होता । अग्नि तो एक ही प्रकार की होती है, पर दूसरे पदार्थों के साथ उसका जैसा तथा जितना सम्बन्ध होता है, उनका वैसा ही तथा उतना ही रूप अभिव्यक्त होता है । तात्पर्य यह कि जैसे (जगत् में) छोटे-बड़े रूप नाना भेद दीख पड़ते हैं, वैसे ही प्राणियों में दिखनेवाले भेद जीवत्व के कारण नहीं, अपितु कर्मानुसार देहप्राप्ति के कारण हैं । पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों का शरीर उनकी आत्मा के उपवस्त्र के समान है । यदि सर्वदा मनुष्यों के जीव मनुष्यों में और अन्य प्राणियों के जीव उनके अपने अपने शरीरों में ही रहें, तो ईश्वर पर अन्याय तथा पक्षपात का दोष लगता है । ईश्वर कोई मनुष्यों के समान अपूर्ण तो है नहीं, जो बार बार अपने कर्तृत्व में गड़बड़ी किया करे । ईश्वर ने तो सभी प्राणियों के लिए एक ही अलौकिक नियम बनाया है और उसी नियम के आधार पर वे अपने अपने कर्मानुसार देह धारण करते हैं । ईश्वर के सर्वशक्तिमान तथा महाज्ञानी होने के कारण उसे अल्पज्ञ मनुष्यों के समान साक्षी-प्रमाण के अनुसार शासन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

"ईश्वर ने प्राणिमात्र को जो ज्ञान प्रदान किया है, वह साधारण तथा विशेष दो प्रकार का है । मनुष्य में विशेष ज्ञान तथा अन्य प्राणियों में साधारण ज्ञान होता है । आहार, निद्रा, भय, तथा मैथुन – ये साधारण ज्ञान के प्रकार हैं । फिर सार-असार तथा उचित-अनुचित का विचार करके निर्णय लेने की क्षमता को विशेष ज्ञान कहते हैं । पशु-पक्षियों में साधारण ज्ञान होता है, तथापि ईश्वर निष्पक्ष होने के कारण उन्हें भी मनुष्य-जन्म देकर विशेष ज्ञान की प्राप्ति कराता है । उत्तम मनुष्य-जन्म पाकर भी जीव यदि अधम कर्म करे तो उसे पुनः निम्नतर शरीर धारण करना पड़ता है । इस रीति से बिना प्रयास तथा निर्विघ्न रूप से सृष्टि का कार्य चलते देखकर ईश्वर की ऐसी उत्तम योजना तथा अद्‌भुत क्षमता पर विस्मित रह जाना पड़ता है । समान आयु, समान स्वास्थ्य, समान शिक्षा, समान उपदेश तथा समान संगति पाने के बावजूद एक व्यक्ति विद्वान्, विवेकवान, सदाचारी तथा धर्मनिष्ठ बनता है और दूसरा मूर्ख, अविवेकी, दुराचारी तथा अधर्मी निकलता है । इसका कारण उसके पूर्वजन्मों के कर्मफल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? मनुष्य देह में आने के बाद जीव यदि मृत्युपर्यन्त संसार में आसक्ति बढ़ाता रहे, तो वह उत्तरोत्तर पुनर्जन्म प्राप्त करता रहता है । संसार के क्षणभंगुर सुखों की आसक्ति का समूल नाश हुए बिना जन्म-मरण के चक्र को रोका नहीं जा सकता । जिन्हें नरदेह मिली है अर्थात् जिन्हें विशेष ज्ञान की प्राप्ति हुई है, उन्हें ऐसी रीति से संसार के कार्य करना चाहिए कि जिससे परमार्थ-सिद्धि में बाधा न पड़े । तात्पर्य यह कि संसार के कार्य करते हुए भी उससे विरक्त तथा निर्विकार रहकर आत्मा-परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिए । यही सच्चे पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधन है ।"

नामदार ठाकोर साहेब ने ४ तथा ५ मई का विवरण एक साथ लिपिबद्ध किया है, जो इस प्रकार है – "पुनर्जन्म पर हुई चर्चा के विषय में चौथे दिन भी मैंने खूब विचार किया और उससे सम्बन्धित कई पुस्तकों का अवलोकन भी किया । इससे पुनर्जन्म के विषय में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ऐहिक दृष्टि से देखें तो पुनर्जन्म है और पारलौकिक दृष्टि से देखें तो पुनर्जन्म नहीं है । दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मिक दृष्टि से पुर्नजन्म है और आध्यात्मिक दृष्टि से पुर्नजन्म नहीं है । तीसरे प्रकार से कहे तो व्यावहारिक दृष्टि से पुर्नजन्म है और पारमार्थिक दृष्टि से पुर्नजन्म नहीं है । अब पुर्नजन्म किस रीति से है और किस रीति से नहीं है? पुरुष तथा प्रकृति अर्थात् जड़ तथा चैतन्य अनादि हैं । इनके मूल तत्त्वों का कभी नाश नहीं हो सकता । जड़ तथा चैतन्य अनादि होते हुए भी ऐहिक जगत् में उनके द्वारा व्यक्त विशेष तथा सामान्य चैतन्य युक्त प्राणी पदार्थों से उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं तथा लय को प्राप्त होते हैं । उनका बारम्बार उत्पन्न होना, स्थिति में आना और बारम्बार लय हो जाना प्रकृति द्रव्य का चैतन्य ऐश्वर्ययुक्त व्यापार है । यह व्यापार जड़-चैतन्य के मूलतात्त्विक परमाणुओं के द्वारा उपस्थित होता है और इन परमाणुओ के पृथक् हो जाने से लय को प्राप्त होता है । वह इन तात्त्विक परमाणुओं के पृथक् हो जाने से लय को प्राप्त होता है और इनके एकत्र हो जाने पर वह पुनः स्थिति में आ जाता है । इस प्रकार यह व्यापार अशाश्वत है । (परन्तु) इससे प्रकृति या पुरुष अर्थात् जड़-चैतन्य में अशाश्वतता की बाधा नहीं आती । यदि प्रकृति-पुरुष को अशाश्वत कहा जाय, तो उनके द्रव्य से प्राणी-पदार्थों की उत्पत्ति का व्यापार ही नहीं हो सकता। सत्य के साथ असत्य भी प्रकट होना चाहिए, क्योंकि ऐसा न हो तो सत्य वस्तु का बोध ही नहीं हो सकता । शाश्वत के साथ अशाश्वत को भी उपस्थित होना चाहिए, क्योंकि ऐसा न हो तो शाश्वत तत्त्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती । सूर्य हो तो उसके व्यापार रूप किरणों तथा प्रकाश को भी उपस्थित रहना होगा, परन्तु यह उपस्थित हुआ व्यापार एक समान अवस्था में नहीं रह सकता, तो मिथ्या है । किरणों के आलोक से उत्पन्न रौशनी कम या ज्यादा होती है, लुप्त तथा पुनः प्रकट होती है; परन्तु सूर्य एक ही स्थिति में बना रहता है । इसी रीति से प्रकृति-

पुरुष तो एक ही स्थिति में बने रहते हैं, परन्तु उनके द्वारा उपस्थित व्यापार बारम्बार उत्पन्न होता है, बारम्बार लय को पाकर पुनः बारम्बार उत्पन्न होता है । इससे यह सिद्ध हो सकता है कि जिस अर्थ में प्रकृति-द्रव्य के चैतन्य-ऐश्वर्ययुक्त व्यापार ऐहिक जगत् में अशाश्वत होने के कारण उत्पत्ति, स्थिति तथा लय – इन तीन दशाओं को प्राप्त होता है, उस अर्थ में ऐहिक दृष्टि से व्यापार रूप प्राणी-पदार्थों का पुनर्जन्म है; परन्तु जिन प्राणी-पदार्थों का पुर्नजन्म होता है, उनकी उत्पत्ति एवं लय का स्थान प्रकृति व पुरुष होने के कारण, अन्ततः वे अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होते हैं और जिस अर्थ में यह अनन्त व्यापार चालू रहते हुए भी प्रकृति-पुरुष अपने मूलरूप में स्थित रह सकते हैं – अनादि अशाश्वत (?) रह सकते हैं, उस अर्थ में पारलौकिक दृष्टि से अर्थात् प्रकृति-द्रव्य के चैतन्य-ऐश्वर्ययुक्त व्यापार-रूप प्राणी-पदार्थों की ऐहिक जगत् में उत्पत्ति होने के पहले की तथा ऐहिक जगत् में लय को प्राप्त होने के बाद की, जो मूल स्थिति है वह अभिन्न होने के कारण पारलौकिक दृष्टि से देखें तो पुर्नजन्म नहीं है । चूना और कत्था एकत्र किया जाय तो लाल रंग प्रकट होता है, परन्तु लाल रंग प्रकट होने के बाद उसका पृथक्करण किया जाय, तो चूना और कत्था के अलग हो जाने पर लाल रंग का नाश हो जाता है । इसी रीति से यदि हम बारम्बार इन दो वस्तुओं को मिलाएँ और बारम्बार उन्हें अलग करें, तो बारम्बार लाल रंग उत्पन्न होकर बारम्बार उसका नाश होगा । इस प्रक्रिया में लाल रंग बारम्बार उत्पन्न तथा नाश को प्राप्त होता है, परन्तु चूना और कत्था चाहे जितनी बार भी प्रयोग में लाया जाय, उनका अपना असल स्वरूप कायम रहता है । इसी प्रकार प्रकृति-पुरुष के सम्मिलन से प्राणी-पदार्थों की अनेक बार उत्पत्ति तथा अनेक बार विनाश होने पर भी प्रकृति-पुरुष का मूल स्वरूप कायम रहता है । ऐसा होने से प्रकृति-पुरुष के लक्षण रूप संयोग कार्य को अर्थात् सामान्य तथा विशेष चैतन्य प्राणी-पदार्थों को सीमित आत्मिक दृष्टि से देखा जाय तो पुनर्जन्म है; परन्तु प्रकृति-पुरुष के लक्षणरूप संयोग कार्य की अनित्यता की ओर ध्यान देते हुए यदि हम ज्ञाननेत्रों से प्रकृति-पुरुष के मूल स्वरूप का अवलोकन करें तो इस आध्यात्मिक दृष्टि से पुनर्जन्म नहीं है ।

"धोती, कुर्ता और पगड़ी – इन तीनों चीजों का हम अलग अलग तरह से उपयोग करते हैं । यदि हम किसी सेवक को पगड़ी लाने का आदेश दें और वह उसकी जगह धोती ले आये तो हम उसे मूर्ख समझेंगे, क्योंकि व्यवहार में तो ये तीनों वस्तुएँ अलग अलग हैं । पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि व्यावहारिक अवस्था पाकर भिन्न प्रतीत होने पर भी, तीनों वस्तुओं का परम अर्थरूप तो एकमात्र कपास ही हैं । कपास से ही तीनों वस्तुएँ बनी हैं । बारम्बार फटकर उनका नाश होगा, नष्ट होने के बाद उसके परमाणु मिट्टी में मिलकर कपास के बीज को पुष्ट करेंगे, उसका पौधा होगा, उसमें फूल लगेंगे और इन फूलों से कपास उत्पन्न होगा । कपास से सूत होगा और सूत से धोती, कुर्ता, पगड़ी जैसी अनेक वस्तुएँ निर्मित होकर व्यवहार दशा को प्राप्त करेंगी । इसी प्रकार सृष्टि के समस्त प्राणी-पदार्थ प्रकृति-पुरुष के प्रभाव से व्यवहार दशा को प्राप्त होते हैं और व्यावहरिक दृष्टि से देखें तो पुनर्जन्म है; परन्तु यदि हम उसके परम अर्थ रूप प्रकृति-पुरुष के मूल स्वरूप की जाँच करें, तो पारमार्थिक दृष्टि से उनका पुनर्जन्म नहीं है । तात्पर्य यह कि जब तक प्राणी-पदार्थ अपने मूल स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर लेते, तभी तक पुनर्जन्म प्राप्त करते रहते हैं; परन्तु मूल स्वरूप को पाने के बाद उनके लिए पुनर्जन्म का अस्तित्व नहीं रह जाता; मूल स्वरूप को प्राप्त करना तथा जन्म-मृत्यु को दूर करना बड़ा ही कठिन कार्य है ।

"प्रकृति द्रव्य के मूल तत्त्वों का शुद्ध चैतन्यरूप पुरुष के साथ संसर्ग होने से, शुद्ध चैतन्य रूप परमात्मा की इच्छा द्वारा अगम अलौकिक महा-चित्शक्ति उत्पन्न होती है । ऐसा होने पर प्रकृति, शक्ति (या जिसे कुछ तत्त्ववेत्ता मिश्रत चैतन्य भी कहते हैं) और शुद्ध चैतन्य (चिन्मात्र) के मिलने से जीवात्मा की सृष्टि हुई है । मोहलुब्धता प्रकृति का और केवल साक्षीभूत रहना पुरुष का लक्षण होने से ये दोनों ही लक्षण जीवात्मा में संचरित हो गये हैं ।" ऐसा होने से जीवात्मा प्रकृतिरूप माया में ऐसा लुब्ध हो जाता है कि उसे परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का भान ही नहीं रह जाता । महामायारूप कालनिद्रा में वह ऐसा तन्द्रित हो जाता है कि उसमें साक्षीभूत होकर रहने-वाले पुरुष के लक्षण को ढूँढ़ने की सुध ही नहीं रह जाती । ऐसा होने से उसे बारम्बार जन्म-मरण के चक्कर में भटकना पड़ता है । परन्तु अन्त में जब वह सत्कर्म तथा ज्ञान के द्वारा संसार की आसक्ति को छोड़कर परमात्मा के सत्य स्वरूप को पहचान लेता है, तब उसे मोक्षगति की प्राप्ति होती है ।

"कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वजन्म या पुनर्जन्म नहीं है, परन्तु मैं उनसे पूछता हूँ कि पूर्वजन्म न हो, तो जन्म लेने के तुरन्त बाद शिशु जो रोता है – यह रोना उसे किसने सिखाया? वह स्वयं ही माँ का दूध पीने लगता है, यह दूध पीना उसे किसने सिखाया? शिशु की अज्ञानजन्य दशा में उसे रोने तथा दूध पीने का ज्ञान कहाँ से आया? यदि पूर्वजन्म न हो तो जन्म तथा मृत्यु के बीच की स्थिति अर्थात् आयु सब मनुष्यों की एक समान क्यों नहीं रहती? यदि पूर्वजन्म न हो तो सभी मनुष्यों के जीवन में बुद्धि तथा आचरण एक सरीखा क्यों नहीं रहता? यदि पूर्वजन्म न हो तो वृक्ष से बीज तथा बीज से वृक्ष किस प्रकार होते? ऐसे ही यदि पूर्वजन्म के समान ही पुनर्जन्म न हो तो वर्तमान जन्म में प्राणियों का वंश कैसे आगे बढ़ता जाता है? आप कह सकते है कि नई नई जीवात्माएँ उत्पन्न

होती हैं, इस पर मैं पूछता हूँ कि जब जीवात्मा केवल प्रकृति का कार्य नहीं है, तब फिर प्रकृति-द्रव्य द्वारा संघटित शरीर छूट जाने पर, जीवात्मा प्रकृति के अतिरिक्त अपनी उत्पत्ति के अन्य कारणों से भी मुक्त हो गई है, ऐसा मानने का क्या प्रमाण हो सकता है? यदि पुनर्जन्म न हो तो चैतन्य के आश्रय बिना प्रकृति अकेली कुछ नहीं कर सकती। इस प्रकार प्रकृति-चैतन्य द्वारा प्रेरित होकर प्रकृति-द्रव्य से संघटित शरीर के छूट जाने पर जीवात्मा की उत्पत्ति में प्रकृति के अतिरिक्त मूल तत्त्व के रूप में कोई अन्य चैतन्यरूप कारण उपस्थित न होने पर; वह प्रकृति-द्रव्य नवीन शरीर नहीं धारण करेगा, इसका क्या प्रमाण है? यदि पुनर्जन्म न हो, तो पुरुषरूप चैतन्य निर्लेप तथा निर्विकार होने के कारण, उपाधिमात्र की उत्पादक प्रकृतिरूप महामाया के संसर्ग में आने के बाद उससे छूटने के विषय में जीवात्मा-मात्र की एक ही प्रकार की स्थिति देखने में क्यों नहीं आती? यदि पुनर्जन्म न हो तो पुरुषरूप चैतन्य में प्रकृतिरूप महामाया का संयोग होने के बाद अभाव, त्याग एवं विराग – ये लक्षण कायम नहीं रहने से, आसक्ति-अनुराग तथा आकर्षण कहाँ से उपस्थित होते हैं? और ये जो केवल प्रतिकूल लक्षण ही उपस्थित होते हैं, तो फिर उन मूल अनुकूल लक्षणों को धारण किये बिना जीवात्मा की मुक्ति कैसे सम्भव है? इन सारे प्रश्नों का समाधान एक छोटे से उत्तर से हो सकता है और वह यह कि पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्म है। "जिस प्रकार अभी हम हैं, वैसे ही हम पूर्व में भी थे और यदि संसार की आसक्ति नहीं छूटी तो बाद में भी रहेंगे" – नैयायिकों का यह कथन मुझे युक्तिसंगत प्रतीत होता है। पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों द्वारा संघटित प्रारब्ध संस्कारों का योग इस जन्म में पाकर, जीवात्मा जन्म तथा मृत्यु के बीच की स्थिति के दौरान अपना व्यवहार चलाती है। यदि ज्ञान तथा सत्कर्मों द्वारा कर्म-बन्धनों का क्षय न हो, अर्थात् यदि मृत्युपर्यन्त संसार की आसक्ति न छूटकर केवल उसमें वृद्धि ही होती रहे, तो फिर पुनर्जन्म पाये बिना जीवात्मा की मुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा आत्मज्ञानीगण कहा करते हैं। वे परमात्मा के न्यायिक, निर्लेप, अचल तथा सत्य स्वरूप को केवल अनुरूप तथा अनुकूल देखते हैं।"

दि. ८-५-९२ को ठाकोर साहेब की डायरी में लिखा है – "वेद में ज्ञान, कर्म तथा उपासना – ये तीन मुख्य काण्ड हैं। सृष्टि का क्रम दीर्घकाल तक एक समान चलता रहे और मनुष्यमात्र में इतर प्राणियों की अपेक्षा जो विशेषता है उसके उपयोग हेतु वेद में ये तीन काण्ड प्रदर्शित किये गये हैं। सृष्टिक्रम को समझने हेतु पहले ज्ञान प्राप्त करने की जरूरत है। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस ज्ञान से लाभ उठाने की स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को परिपूर्ण करने के लिए तन-मन को संयमित करना पड़ता है और उसी का नाम कर्म है। कर्म होने अर्थात् सभी इच्छाओं की पूर्ति होती रहने से स्वभावत: ही अहं उत्पन्न हो जाता है और संसार की आसक्ति में इतनी वृद्धि हो जाती है कि लोग आत्मा के सच्चे स्वरूप को भूल जाते हैं, परमात्मा का अखण्ड-अविनाशी-सच्चिदानन्द स्वरूप विस्मृत हो जाता है, वह आत्मा-परमात्मा के यथार्थ महत्व को समझ नहीं सकता और जगत् के अनित्य-परिवर्तनशील-अशाश्वत प्राणी-पदार्थों से मिथ्या ममत्व जोड़ लेता है। इसके फलस्वरूप अज्ञान की वृद्धि होने से मनुष्य बुद्धिहीन तथा बलहीन होकर अधम अवस्था का भोग करता है। ऐसा होने पर असार संसार की आसक्ति से छूटने के लिए, मिथ्या माने जानेवाले प्राणी-पदार्थों में स्थापित ममत्व से उत्पन्न दु:ख-तापों का निवारण करने के लिये और आत्मोन्नति के हेतु परमात्मा की उपासना करने की भी आवश्यकता है। वेद ईश्वरप्रेरित सच्चा धर्मग्रन्थ है और इस प्रकार उसके तीनों काण्डों के उत्तम हेतु हैं – ऐसा सिद्ध हो जाता है।"

दैनन्दिनी के ११-५-९२ का अनुलिखन इस प्रकार है – "आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन – साधारण ज्ञान के ये प्रकार सभी प्रणियों में दीख पड़ते हैं, परन्तु मनुष्य में जो विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ दिखता है, उसके उपयोग हेतु रज, तम तथा सत्त्व – इन तीनों गुणों की भी जरूरत है। ज्ञान के द्वारा रजोगुण के कारण कर्म में प्रवृत्ति बढ़ने से पौष्टिक खाद्य, सुन्दर वस्त्रालंकार, प्रतिष्ठा तथा अधिकार पाने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। सुख के साधन प्राप्त होने के बाद अपने श्रम का फल कोई अन्य न ले जाय या अज्ञानवश उसका लाभ उठाने में बाधा न उत्पन्न हो, इस हेतु क्रोधरूप तमोगुण भी जरूरी है। रजोगुण तथा तमोगुण की जरूरत होने पर भी जहाँ उनसे सद् विद्या में वृद्धि नहीं हो सकती, वहीं उनमें जरूरत से ज्यादा वृद्धि हो जाने से बड़ी हानि है। अत: इन गुणों पर अंकुश लगाने तथा संयमित रखने हेतु सत्त्वगुण की जरूरत पड़ी। सांख्यशास्त्र में कहा है – **सत्त्वरजस्तमः साम्यवस्थाः** अर्थात् सत्त्व, रज तथा तम – इन तीनों गुणों की साम्यावस्था की बड़ी जरूरत है। यदि एक गुण भी न्यूनाधिक हुआ, तो वह अपना अच्छा-बुरा भाव प्रकट करता है। मनुष्यों में जिसमें बचपन से ही इन तीनों में से जो भी गुण प्रधान होता है, वह उसी के अनुरूप कार्य करने में प्रवृत्त होता है। यजुर्वेद में एक जगह कहा गया है – **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्बाहू राजन्यःकृत** आदि। इसका आजकल के पोपट पण्डित ऐसा अर्थ लगाते हैं – विराट् पुरुष (ब्रह्मा) के मुख से ब्राह्मण, हाथों से क्षत्रिय, सीने से वैश्य तथा पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुए। मुझे इस प्रकार लगाये गये अर्थ पर हास्य तथा खेद होता है। मुझे तो लगता है कि विद्वान् तथा बुद्धिमान पुरुषों ने वेद के आधार पर ही पुराणों की रचना की है और उन्होंने अपनी अलंकारिक भाषा में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की पुरुष रूप में कल्पना कर, उसके मुख को ब्राह्मण, हाथों को क्षत्रिय, सीने को वैश्य तथा पाँवों को शूद्र का रूप दिया है।

इसका वास्तविक अर्थ ऐसा हो सकता है कि जो सत्त्वगुणप्रधान होने के कारण सत्यविद्या का ज्ञान प्राप्त कर विद्वान् हो सकें, उस श्रेष्ठ अर्थात् सत्यविद्या को सीखने तथा अन्यों को सिखाने का साधन मुख होने के कारण वे (ब्राह्मण) विराट् पुरुष के मुखरूप हैं; जो रजोगुण की प्रधानता होने के कारण बाहुबल से अपनी तथा अपने मनुष्य बान्धवों की रक्षा करने में उद्यत होते हैं, वे (क्षत्रिय) आत्मा-परमात्मा के सच्चे स्वरूप को समझकर ज्ञानमार्ग से अपना तथा दूसरों का हित कर सकनेवाले विराट् के मुखरूप ब्राह्मण से थोड़े नीचे हैं। जिनमें रजोगुण विशेष तथा तमोगुण गौण रूप से हो, जो साहसपूर्वक व्यापार-रोजगार चलाकर विषय-भोग की सामग्री प्राप्त कर सकते हैं, उनके साहस का स्थान सीना होने के कारण वे विराट् पुरुष के वक्षरूप (वैश्य) हैं। और जिनमें प्रधानतः तमोगुण हो और जो केवल दासत्व ही कर सकें, वे सबसे कनिष्ठ अर्थात् विराट् पुरुष के पाँव रूप (शूद्र) माने गये। यही यजुर्वेद में कथित पद का स्पष्ट तथा वास्तविक अर्थ है। वेद ईश्वरप्रेरित सत्यज्ञान होने तथा उपरोक्त प्रकार से तीनों गुण भी मनुष्य में विशेष ज्ञान से प्रेरित होने से, पृथ्वी के प्रत्येक देश के लोगों में उपरोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र – इन चार प्रकार के वर्णों की व्यवस्था होनी चाहिए और वैसा ही है भी; पर अपने देश में लोगों ने जो अनेक जातियाँ बना ली हैं, वे कृत्रिम हैं और सभी प्रकार से मनुष्यों की उन्नति में बाधक हैं।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

आचार्य रामानुज (१४)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द ने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' मे हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

१०. देह का दर्शन

महापूर्ण गुरुचरणों से विदा लेकर कांचीपुर की ओर चल पड़े। भिक्षामात्र के लिये किसी गृहस्थ के घर ठहरकर वे दिन भर यात्रा करते। रात वे किसी भाग्यवान गृहस्थ के बरामदे में बिताते। इस प्रकार चार दिनों में वे कांचीपुर जा पहुँचे और भगवान वरदराज का दर्शन करने के बाद महात्मा कांचीपूर्ण से मिलने गये। उस समय संध्या हो चुकी थी। उनके आगमन का कारण जान लेने के बाद कांचीपूर्ण ने उनसे वह रात उन्हीं के आश्रम में बिताने का अनुरोध किया। विभिन्न प्रकार के उदात्त विषयों पर चर्चा करते हुए वहाँ रात बिताने के बाद महापूर्ण प्रातःकाल कांचीपूर्ण के साथ शालकूप की ओर गये।

मार्ग में कन्धे पर कलश उठाये रामानुज को उन्होंने दूर से ही देखा। कांचीपूर्ण बोले, "मुझे अभी मन्दिर में जाना होगा, अतः मैं चलता हूँ। आप रामानुज के पास जाकर अपना अभिप्राय व्यक्त करें।" यह कहकर उन्होंने प्रस्थान किया। दूर स्थित, कन्धे पर पूर्ण कलश लिये, परम मनोहर, दिव्य आभायुक्त, विष्णुभक्ति के अनुपम आधार, नररूप देवता का दर्शन कर महापूर्ण प्रेम से पुलकित हो उठे। उनके मुख से स्वतः ही भगवद्-गुणावली स्फुरित होने लगी –

> **वशी वदान्यो गुणवानृजुश्शुचिः**
> **मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरस्समः।**
> **कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः**
> **समस्त-कल्याण-गुणामृतोदधि ।।**[१]

– आप अपने स्वभाव से सबल, उदार, भले, सरल, पवित्र, कोमल, दयावान, मधुर, स्थिर, समदृष्टि, धन्य, कृतज्ञ और समस्त सद्गुणों के अमृतसागर हैं।

क्रमशः रामानुज अति निकट आ पहुँचे। महापूर्ण ने आनन्द-विह्वल होकर भगवत्पादपद्मों में प्रणत होते हुए कहा –

> **नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये**
> **नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये।**
> **नमो नमोऽनन्त-महाविभूतये**
> **नमो नमोऽनन्त-दयैकसिन्धवे ।।**[२]

– मन-वाणी से अतीत और मन-वाणी के एकमात्र आधार पुरुष को बारम्बार प्रणाम है। अनन्त, महाविभूति रूप अपार दया के एकमात्र अनन्त सागर आपको बारम्बार प्रणाम है।

उन्होंने यामुनाचार्य रचित और भी कुछ श्लोकों का पाठ किया। रामानुज चित्रलिखे-से ठहर गये और एकाग्र चित्त से उनका श्रवण करने लगे; तदुपरान्त उन्होंने उन पूजनीय, काषायधारी, वयोवृद्ध महात्मा से अतीव विनयपूर्वक मधुर वाणी में पूछा, "इन अतुलनीय श्लोकों का रचयिता कौन है? मैं उन्हें बारम्बार प्रणाम करता हूँ और आपके समान महानुभाव को भी बारम्बार प्रणाम करता हूँ। आज का प्रभात मेरे लिये बड़ा ही शुभ है, जो आपके पवित्र मुख से यह पवित्र गाथा सुनकर मैं अपने को पवित्र अनुभव कर रहा हूँ।" महापूर्ण ने कहा, "ये श्लोक मेरे प्रभु श्रीमत् यामुनाचार्य द्वारा रचित हैं।"

१. स्तोत्ररत्न, १८ २. वही, २१

यामुनाचार्य का नाम सुनकर रामानुज ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक पूछा, "महाशय, सुना है कि महर्षि बीमार पड़ गये हैं। उनका स्वास्थ्य ठीक तो है न? आप कितने दिनों से उनकी पदछाया से वंचित हैं?" महापूर्ण ने कहा, "मैं अभी उन्हीं के पास से चला आ रहा हूँ। मैंने जिस समय उनसे विदा ली, उस समय तक उन्हें आरोग्यलाभ हो चुका था।" इस पर रामानुज बोले, "आपका इधर आने का क्या प्रयोजन है? आज आप भिक्षा कहाँ ग्रहण करेंगे? यदि कोई आपत्ति न हो, तो मेरी प्रार्थना है कि इसी अधम के घर भिक्षा प्राप्तकर दास को कृतार्थ करें।" महापूर्ण ने कहा, "महर्षि यागुन मुनि जिनका सर्वदा चिन्तन किया करते हैं, उनसे बढ़कर भाग्यवान और कृतार्थ व्यक्ति और कौन होगा? हे महात्मन्! अपने प्रभु के आदेश से मैं आप ही के पास आया हूँ।" रामानुज ने अतीव विस्मित होकर कहा, "मेरे समान क्षुद्रातिक्षुद्र जीव का उन देवतुल्य महापुरुष ने स्मरण किया है! मै क्या उनके स्मरणयोग्य हूँ? किस अभिप्राय से उन्होंने मेरा स्मरण किया है?" महापूर्ण ने कहा, "हमारे प्रभु आपसे मिलना चाहते हैं। इसीलिये उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। रोग के प्रकोप से उनका शरीर अत्यन्त जीर्ण हो गया है। वैसे अब वे थोड़े स्वस्थ हैं। अतएव यदि आप उनकी अभिलाषा पूर्ण करना चाहें, तो अविलम्ब उनके दर्शनार्थ चल देना ही उचित होगा।"

यह सुसंवाद पाकर श्री रामानुज के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने महापूर्ण से कहा, "थोड़ी देर ठहरिये, मैं इस जल-भरे कलश को मन्दिर में रख आऊँ, उसके बाद हम दोनों श्रीरंगम के लिये प्रस्थान करेंगे।" यह कहकर रामानुज द्रुत वेग से मन्दिर की ओर चले गये। रामानुज की यामुनाचार्य के प्रति सहज प्रगाढ़ भक्ति देखकर महापूर्ण विस्मित हुए और ऐसे शुद्ध भक्त के साथ वार्तालाप करके स्वयं को धन्य मानने लगे। उन्होंने गाया –

> **तव दास्यसुखैकसङ्गिनां**
> **भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे।**
> **इतरावसथेषु मा स्म भूत्**
> **अपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ।।**[३]

– जो एकमात्र तुम्हारे दास्यसुख के ही आकांक्षी हैं, उनके घर में मैं कीट रूप में जन्म लूँ तो भी अच्छा है, परन्तु अन्य भाव रखनेवाले लोगों के गृह में मैं चतुर्मुख ब्रह्मा होकर भी जन्म लेना नही चाहूँगा।

रामानुज शीघ्र ही लौट आए। वे यात्रा के लिये तैयार थे। महापूर्ण ने पूछा, "घर को समाचार नहीं देंगे? आपकी अनुपस्थिति में भी घर का काम सुचारु रूप से चलता रहे, इसकी व्यवस्था करके ही चलना क्या उचित नहीं होगा?"

३. वही, ५५

रामानुज ने उत्तर दिया, "पहले भगवान तथा उनके भक्त का आज्ञापालन और उसके बाद गृहकर्म। मेरा मन यामुनमुनि का दर्शन करने को अतिशय उंद्विग्न हुआ है। कृपया तत्काल यात्रा करने की अनुमति दीजिये।"

महापूर्ण यह सुनकर आनन्द से विभोर हो उठे। उन्होंने रामानुज को प्रगाढ़ आलिंगन में बाँधकर अपनी परम प्रीति व्यक्त की। दोनों ही महापुरुष-दर्शन को व्यग्र हो द्रुत पद से अपने गन्तव्य की ओर चलने लगे। दिन में किसी गृहस्थ के घर भिक्षा करते और रात हो जाने पर किसी के बरामदे में विश्राम करते हुए चार दिनों में वे कावेरी तट पर स्थित श्रीशिर:पल्ली (त्रिरुचिरापल्ली) जा पहुँचे। शीघ्र ही वे कावेरी पार हुए और श्री रंगनाथजी के मन्दिर के समीप स्थित मठ की ओर जाने लगे। उसी समय सामने बड़ी भीड़ देखकर उन्होंने पूछा, "इतने लोगों के एकत्र होने का कारण क्या है?" एक व्यक्ति ने उत्तर दिया, "महाशय, और क्या कहूँ – पृथ्वी आज अपने सर्वोत्कृष्ट अलंकार से वंचित हो गयी है। महात्मा अलवन्दार ने परमपद पा लिया है।"

यह सुनते ही रामानुज अचेत होकर भूतल पर गिर पड़े और महापूर्ण उच्च स्वर में रुदन के साथ अपना सिर पीटते हुए कहने लगे, "हाय प्रभो, दास को क्या इसी प्रकार वंचित किया जाता है? इसीलिए क्या मुझे कांचीपुर भेजा था?" यह कहकर वे अधीरतापूर्वक रोने लगे। थोड़ी देर बाद किंचित् धीरज बँधने पर उन्होंने मूर्छित रामानुज की ओर देखा। अपने शोकावेग का संवरण करते हुए उन्होंने पानी लाकर रामानुज के मुख-नेत्रों पर डाला और धीरे धीरे उनकी चेतना लौटाने के बाद सान्त्वना देते हुए वे बोले, "वत्स, क्या करोगे? जो होना है, वही होगा। सब नारायण की इच्छा है। जिन महापुरुष के लिए हम शोक में अभिभूत हो पड़े हैं, उन्हीं के कथनानुसार सब कुछ मंगल के लिए ही होता है। उन्होंने हमें सदैव ही श्रीमन्नारायण की इच्छा का अनुगामी होने का उपदेश दिया है। उनके प्रयाण के पश्चात् उनके उपदेश पर अविश्वास करना बिल्कुल ही उचित नहीं। चलो, समाधिगर्भ में अदृश्य हो जाने के पूर्व चलकर हम उनके पवित्र विग्रह का अन्तिम दर्शन कर लें।" रामानुज भी किंचित् धैर्य पाकर महापूर्ण के पीछे चल पड़े। शीघ्र ही वे शिष्यों से घिरे अलवन्दार के देहमन्दिर के समीप जा पहुँचे और देखा कि महापुरुष दीर्घनिद्रा में लीन हैं। महापूर्ण उनके चरणों में पड़कर अपने नयनजल से उन्हें धोने लगे। रामानुज अवाक् होकर चित्रलिखे-से खड़े रहे। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी।

कुछ काल बाद दोनों का शोकावेग थोड़ा प्रशमित हुआ। रामानुज स्थिर नयनों से उन परम पवित्र परमवैष्णव के श्रीविग्रह का दर्शन करने लगे। चिरनिद्रा में लीन मुखमण्डल पर पूर्ण

मात्रा में गाम्भीर्य तथा सौन्दर्य विराजित था, सर्व-लावण्यहर मृत्यु की तामसिक छाया उस पवित्र देह पर नहीं पड़ी थी। मृत्यु की भला क्या बिसात, जो वह इन भगवद्भक्त का स्पर्श कर पाती? रामानुज एकटक उन महापुरुष की ओर देखे जा रहे थे। मानो अन्तर ही अन्तर में दोनों के बीच कोई बात हो रही हो। सभी निस्तब्ध थे। इतने लोगों के बीच भी किसी की वाणी स्फुरित नहीं हो रही थी। सभी अवाक् होकर इस युगलमूर्ति – जीवित तथा निर्जीव का समागम देख रहे थे।

थोड़ी देर बाद रामानुज ने पूछा, "देख रहा हूँ कि महर्षि के दाहिने हाथ की अंगुलियाँ मुट्ठी के रूप में बँधी हुई हैं। जीवित दशा में भी क्या ये ऐसे ही रहती थीं?" निकट स्थित शिष्य बोले, "नहीं, उनकी अंगुलियाँ तो सामान्य ही रहा करती थीं। इस समय ऐसा होने का कारण हम लोग कुछ समझ नहीं पा रहे हैं।" यह सुनकर रामानुज ने उच्च स्वर में कहा –

अहं विष्णुमते स्थित्वा जनानज्ञानमोहितान्।
पंचसंस्कारसम्पन्नान् द्राविड़ाम्नाय पारगान्।
प्रपत्तिधर्मनिरतान् कृत्वा रक्षामि सर्वदा ।।[४]

– मैं विष्णुमत् में रहकर अज्ञानमोहित जनों को पंच संस्कारों से युक्त, द्राविड़ वेदों में पारंगत कर और शरणागति धर्म में लगाकर सर्वदा रक्षा करता रहूँगा।

उनके इतना कहते ही एक उँगली खुलकर सीधी हो गयी। रामानुज ने पुन: कहा –

संगृह्य निखिलानर्थान् तत्त्वज्ञानपरं शुभम्।
श्रीभाष्यं च करिष्यामि जनरक्षणहेतुना ।।[५]

– मैं लोगों की रक्षा हेतु समस्त अर्थों का संग्रह कर मंगलमय परम तत्त्वज्ञान प्रतिपादक श्रीभाष्य की रचना करूँगा।

यह कहते ही और भी एक अँगुली खुलकर सीधी हो गयी। रामानुज ने फिर कहा –

जीवेश्वरादीन् लोकेभ्यः कृपया यः पराशरः।
सन्दर्शयन् तत्स्वभावान् तदुपायगतीस्तथा ।।
पुराणरत्नं संचक्रे मुनिवर्यः कृपानिधिः।
तस्य नाम्ना महाप्राज्ञ वैष्णवस्य च कस्यचित्।
अभिधानं करिष्यामि निष्क्रयार्थं मुनेरहम् ।।[६]

– जिन कृपामय मुनिवर पराशर ने लोगों के प्रति दयावश जीव, ईश्वर, जगत्, उनका स्वभाव तथा उन्नति का उपाय स्पष्ट रूप से समझाते हुए पुराणरत्न (विष्ण-पुराण) की रचना की, उनके ऋण का शोधन करने के लिए मैं किसी महापण्डित वैष्णव को उनका नाम दूँगा।

रामानुज के इतना करते ही उनकी आखिरी अंगुली भी खुलकर सीधी हो गयी। यह देखकर सब लोग बड़े विस्मित हुए और इस बात में किसी को सन्देह नहीं रहा कि यह युवक ही यथासमय अलवन्दार का आसन ग्रहण करेगा।

देह को समाधिगर्भ में स्थापित करने के पूर्व ही श्री रामानुज कांचीपुर की ओर चलने को उद्धत हुए। जब अलवन्दार के शिष्यों ने उन्हें श्री रंगनाथजी का दर्शन करके जाने को कहा, तो वे मानपूर्वक अश्रु विसर्जित करते हुए बोले, "जिन भगवान ने मेरी अभिलाषा पूरी नहीं की, जिन्होंने मेरे हृदय के आराध्य-देवता को सदा-सर्वदा के लिए हरण कर लिया, मैं उन निष्ठुर भगवान को देखना नहीं चाहता।"

यह कहकर वे अपने आप में डूबे, किसी की ओर भी दृष्टिपात न करते हुए, किसी के भी अनुरोध को न मानते हुए अपने गाँव की ओर चल पड़े। उसी दिन से उनके मुख पर छाई स्वाभाविक स्मित हास्यरेखा लुप्त हो गयी। क्रमशः वे कांचीपुर आ पहुँचे। अब बाल्य-चपलता के स्थान पर वयस्क की गम्भीरता एवं विचारशीलता ने आकर उन पर अधिकार जमा लिया। वे अपना अधिकांश समय निर्जन में ही बिताने लगे। अब वे अपनी सहधर्मिणी के साथ पहले के समान खुलकर बातें नहीं करते थे, यथासाध्य उनका संग त्याग करने का प्रयास करते; केवल कांचीपूर्ण के सान्निध्य में ही उन्हें किंचित् आनन्द प्राप्त होता था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

(पृष्ठ ७० का शेषांश)

सावधानी से देखने के बाद बिल्ली ने खाना खाया और चली गई। वह प्रतिदिन आती, कोने में प्रतीक्षा करती, बच्चों के दूध लाने पर वह डरी-सहमी सी देखती और उनके चले जाने पर दूध पीकर चली जाती। छह महीनों बाद उसने बच्चों को देखकर 'म्याऊँ म्याऊँ' करना शुरू किया, वर्ष भर बच्चों का प्रेम तथा सद्भाव को देखने के बाद वह उनके साथ खेलने लगी। केवल क्रूरता की अभ्यस्त होने के कारण प्रारम्भ में वह बच्चों के प्रेमभाव को पहचान नहीं सकी थी।

हे आगे बढ़े हुए लोगो, हे बुद्धिमान, कुशल तथा सुसंस्कृत लोगो, पिछड़ों को क्षण भर के लिए व्यक्त होनेवाली दिखावटी परोपकार की नहीं, बल्कि विशुद्ध प्रेम की जरूरत है।

कौन उनके प्रति ऐसी सहनशीलता तथा विशुद्ध प्रेम दिखा सकता है? दलित-नेताओं को यदि ऐसी सहिष्णुता तथा प्रेम मिला होता, इसका अनुभव हुआ होता, तो वे भी इसे दूसरों में भी बाँट पाते। जो चीज आपको मिली ही नहीं, उसे आप दूसरों को कैसे दे सकते हैं? हम न भूलें कि शुद्ध निःस्वार्थ प्रेम अपने आप में ही उन्नति का परम मार्ग है। उच्च वर्ग के लोग इसका अनुभव करके भक्ति व नम्रतापूर्वक अपनी सम्पदा का निम्न वर्गों के साथ मिलकर उपयोग करें। ❖ **(क्रमशः)** ❖

---

४. प्रपन्नामृतम् ९/६८-६९ ५. वही, ९/७१-७२ ६. वही, ९/७४-७६

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— १०५ —

जी भर कर खूब सेवाकार्य कर लो। सर्वदा सभी सुविधाएँ नहीं मिला करतीं। प्रभु को कभी भी न भूलना। बात यह है कि शरीर तो क्रमश: जीर्ण-शीर्ण होता ही जा रहा है। इसी प्रकार जितने भी दिन निकल जायँ और क्या! क्या अब यौवन के समान स्वास्थ्य और आरोग्य फिर लौटेगा? प्रभु की इच्छा से जैसा भी हो, वही अच्छा है – मुझे कोई दुख नहीं।

— १०६ —

तुम्हारे पत्र से यह जानकर कि तुम शारीरिक तथा मानसिक रूप से सकुशल हो और विशेषकर तुम्हारा साधन-भजन भलीभाँति चल रहा है, मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इससे बढ़कर शुभ और आनन्दप्रद समाचार और क्या होगा?

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रता।। गीता ७.२८

– पर जिन पुण्यकर्मी व्यक्तियों के पाप नष्ट हो चुके हैं, वे राग-द्वेष रूपी द्वन्द्व तथा मोह से परे होकर दृढ़ निश्चय के साथ मेरा भजन करते हैं।

देहधारण करने पर रोग, शोक आदि तो लगे ही रहते हैं, पर इन सबके बावजूद जो व्यक्ति द्वन्द्व-मोह से मुक्त होकर दृढ़तापूर्वक भगवान का भजन कर सकेगा, उसके पाप क्षीण हो चुके हैं अर्थात् उसे अब द्वन्द्व-मोह के वशीभूत नहीं होना होगा – भगवान इस श्लोक के द्वारा यही संकेत कर रहे हैं। इसी भाव से ठाकुर भी कहा करते थे, "दुःख जाने और शरीर जाने, पर मन तू आनन्द में मग्न रह।" तुम जो यह भाव समझ सके हो, इसी को परम उपलब्धि समझना। भजन ही सार है। जहाँ कही भी रहो, उन्हें हृदय में धारण रख पाने में ही कल्याण है। उन्हीं के द्वार पर पड़े रहने से उनकी दया अवश्य होगी। केवल उन्हीं की ओर दृष्टि लगाकर पड़े रहना होगा, तभी वे स्वयं सब कर देंगे। वे मंगलमय हैं, यह विश्वास ही सुख-शान्ति प्रदान करता है। सामान्य बुद्धि से जगत् के बारे मे विचार करने पर मुश्किल आती है, इसीलिए ठाकुर पहले ईश्वर फिर जगत् को देखने का उपदेश दिया करते थे। प्रभु को पकड़े रहो, तो समस्त कल्याण के अधिकारी बनोगे।

— १०७ —

आपके सांसारिक कष्टों के विषय में जानकर सचमुच ही बड़ा दुःख होता है, समझ मे नहीं आता कि क्या कहूँ! "हाथ मे लगाम थामने की क्षमता हो, तभी घुड़सवारी करो" – यह कहावत बहुत ठीक लगती है। गृहस्थी चलाने के लिये जैसा होना चाहिए, आप वैसा नहीं हो पाते; शायंद इसीलिए आपको कष्ट होता है। फिर सोचता हूँ कि संसारी के रूप में जो लोग चतुर हैं, वे ही क्या बहुत सुख से हैं? ऐसा तो नहीं लगता। "हर जगह घुटने भर जल है" – सारांश यह कि कोई भी सुखी नहीं है। इसीलिए तो भगवान कहते हैं – '**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्**।'[१] इस संसार में सुख नही है। कभी कभो लगता है कि ऐसा ऐसा करने से सुख मिलेगा; परन्तु यह काम की बात नहीं है। यह लोक ही 'असुख' है, इसीलिए तो भगवान कह रहे हैं – '**इमं प्राप्य भजस्व माम्**।' उनका भजन ही सार बात है। "सुख हो या दुःख, मेरा भजन किये जाओ।" अनित्य संसार चिरकाल तक नहीं रहेगा। सुख और दुःख दोनों ही चले जाएँगे। मेरे भजन के अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है, क्योंकि सुख-दुःख कुछ भी न रहेगा – एकमात्र मैं ही नित्य हूँ, मेरा भजन करने से नित्य धन के अधिकारी बनोगे। इसीलिए '**भजस्व माम्**।' आप वही तो कर रहे हैं, नहीं तो कैसे कहते – "वेदस्तुति का नशा महानशा है!"[२] आप भाग्यवान हैं कि आपको ऐसी चीज का नशा लगा है। इस संसार में ऐसे लोग कम हैं जो नशा न करते हों; परन्तु 'वेदस्तुति' का नशा करनेवाले निःसन्देह विरल हैं। आपने ठीक ही कहा है कि सुखपूर्वक हो या दुःखपूर्वक आपके दिन बीतते जा रहे हैं। यह जीवन भला है ही कितने दिनों के लिए? जैसे भी हो ये कुछ दिन उन्हें न भूलकर, उन्हीं के नशे में गुजार दीजिए। किसी तरह यह जीवन बीत जाय। प्रभु की कृपा से यह व्यर्थ न जाय।

संसार जिसके लिए होने का है, हो; परन्तु यह आपके लिये नहीं है। जो झगड़ा-फसाद कर सकता है, करे; आप तो 'जय गुरु', 'जय जगदम्बे' कहते हुए बचे हुए ये कुछ दिन भी इसी प्रकार बिता दीजिए और बिता सकें, इसके लिये प्रार्थना कीजिए। आपका पत्र पढ़कर एक बार तो मन में आया कि नालिश करने को कह डालूँ। पर बादं में सोचने पर लगा कि यह आपके लिए नही है – आप अलग ही धातु के बने हैं। आप बल्कि सांसारिक कष्ट सह लेंगे, पर इन सब झंझटों का कष्ट आप न सह सकेंगे। आपसे कोई गलती नही हुई, आपमें मानसिक दुर्बलता नही है और आप वैसे संसारी भी नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो आप मुकदमा करने से नहीं हिचकिचाते। मनुष्य धन के लिए क्या नहीं करता, यह तो आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। जैसे भी हो धन कमाना ही उद्देश्य है, न्याय-

१. इस अनित्य दुःखपूर्ण संसार मे आकर एकमात्र मेरा ही भजन करो।
२. श्रीमद् भागवतम् के अन्तर्गत आनेवाली 'वेदस्तुति'।

अन्याय आदि किसी भी चीज का उसे बोध नहीं । और एक आप हैं कि जो आपका अपना हक है, उसे वसूल करने में न्यायसंगत उपाय के द्वारा भी बलप्रयोग करने को राजी नहीं हैं कि इससे दूसरों को कष्ट होगा । अत: आपको सच्चा संसारी कैसे कहूँगा? इसीलिए कह रहा था कि जो होना है, हो; प्रभु का आश्रय लेकर सब सहते चलिए । "जो सहता है सो रहता है, जो नहीं सहता उसका विनाश होता है" – प्रभु की इस वाणी में दृढ़ विश्वास रखकर सुख-दु:ख के दिन काट लीजिए । इससे आप अनन्त कल्याण के अधिकारी होंगे ।

— १०८ —

तुम्हारी मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रगति का संवाद पाकर अतीव आनन्द हुआ । प्रभु से प्रार्थना है कि तुम पूर्णरूपेण उन्हीं पर निर्भर होकर अपार शान्ति पाओ और इस तरह अपना मानव-जीवन धन्य कर सको । इससे बढ़कर दूसरी क्या प्रार्थना हो सकती है? प्रभु को पूरी तौर से आत्मसमर्पण – यही मानव-जीवन का चरमोत्कर्ष तथा अन्तिम गति है ।

— १०९ —

मुक्त पुरुषों का प्रारब्धभोग लोकदृष्टि से सत्य होने पर भी, वे इसे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि देहात्मबुद्धि के द्वारा ही प्रारब्ध स्वीकार किया जाता है । **देहात्मभावो नैवेष्ट: प्रारब्ध: त्यज्यतामत:**[४] – यही सिद्धान्त है । भक्त भगवान की इच्छा मानते हैं, अत: वे प्रारब्ध शब्द का उपयोग किया करते हैं ।

— ११० —

जहाँ कहीं भी रहना, बुद्धि को निर्मल रखकर आत्मस्थ रहने का ही प्रयास करना ।

— १११ —

तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है, यह बड़ी खुशी की बात है । मन में सदा खूब सद्भाव का उदय हो रहा है तथा सत्संग की इच्छा जाग्रत है, यह अति उत्तम बात है । विषयचर्चा व विषयी लोगों का संग अच्छा न लगना तो बड़ा अच्छा तथा वांछनीय है ।

प्रभु ही सबके एकमात्र साधन और साध्य हैं । हृदय में सदा उन्हीं का चिन्तन करना । चिन्ता की क्या बात! वे ही सब ठीक कर देंगे । वे जहाँ कहीं भी रखें, मन उनके श्रीचरणों में लगा रहे, सर्वदा इसी के लिए प्रार्थना करना । वे जैसे भी रखें उसी में मंगल है । हाफ़िज कहते हैं – "मेरा यार यदि मुझे धूल-धुसरित देखना पसन्द करता है, और मैं यदि स्वर्ग के सरोवर की ओर दृष्टिपात् करूँ, तो मैं क्षीणदृष्टि हूँ ।" वे जैसे रखें, उसी में सन्तुष्ट रहना उचित है, क्योंकि वे मंगलमय और अन्तर्यामी हैं । वे जानते हैं कि किसके लिए क्या श्रेयस्कर है और तदनुसार व्यवस्था भी कर देते हैं । बीच में हम लोग अपने मन के माफिक कुछ माँगकर गड़बड़ कर डालते हैं । वे जहाँ भी, जैसे भी क्यों न रखें, कृपा करके अपने श्रीचरणों में मति दें – इतना ही काफी है ।

वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तप: ।।[५]

यही है असल बात । ठाकुर, जहाँ भी रहूँ, तुम्हें न भूलूँ और अपने भक्तों का संग दो, विषयी लोगों का संग न देना – ऐसा कहना होगा, इसमें दोष नहीं । प्राणपण से उन्हें पुकारो, वे भला ही करेंगे ।

जितने दिन वे घर में रखें, माँ की सेवा करो । उन्हीं को जगदम्बा की मूर्ति मानकर सेवा-शुश्रूषा आदि करने से कल्याण होता है । वे जिस पथ से ले जायँ, नि:सन्देह वही पथ तुम्हारे लिये अवलम्बन करने योग्य है । तुम्हारा, मेरा और सभी का एकमात्र कर्तव्य है – प्रभु के पथ पर विचरण करना ।

मेरा फोटो पूजा के स्थान में नहीं, ऐसे ही रख लेना । काय-मनो-वाक्य से प्रभु की पूजा करना । वे ही सबके पूज्य तथा आराध्य हैं । उनकी आराधना करने पर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता । जड़ को सींचने से पूरा वृक्ष तृप्त एवं विकसित होता है ।

— ११२ —

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।[६]

– यह ईश्वरीय वाणी ही हमें बता रही है कि ईश्वर ही हमें परिचालित कर रहे हैं, और **मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:**[७]– भी प्रमाणित कर रहा है कि हम उन्हीं के पथ पर चल रहे हैं । अब हमें उनकी आज्ञा का पालन करना होगा – **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन** ।[८] तुमने वही तो लिखा है – "उनका चिन्तन छोड़कर दूसरा कोई विचार हमारे मन में न आए, इसी के लिए प्रयास करना हमारा कर्तव्य है ।" तो फिर गड़बड़ क्यों कर रहे हो? तुम्हारी विचार-प्रणाली पढ़कर मैं आनन्दित हुआ हूँ । तुमने अच्छी सत्

४. प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थिति: ।
देहात्मभावो नैवेष्ट: प्रारब्ध: त्यज्यतामत: ।। (विवेक-चूडामणि ४६२)
– जब तक यह बोध रहता है कि 'मैं देह हूँ', तभी तक प्रारब्ध सिद्ध होता है; परन्तु हम (सिद्धान्ती) देहात्मभाव स्वीकार नहीं करते, अत: प्रारब्ध-सम्बन्धी विचार तथा चिन्तन का परित्याग करो ।

५. वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तप:।
अकुत्सिते कर्मणि य: प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ।। (हितो.४)
– जिसके मन में विषय-वासना है, वह यदि वन में चला जाय, तो भी वहाँ विविध प्रकार के दोषों की उत्पत्ति होती है; और जो शुभकर्म में लगा हुआ है, वह यदि घर में रहकर पंचेन्द्रियों का निग्रह रूपी तप करता रहे, तो ऐसे अनासक्त व्यक्ति के लिए गृह ही तपोवन के समान है ।

६. हे अर्जुन, ईश्वर सभी जीवों के हृदय में रहते है तथा शरीर रूपी यंत्र में आरूढ़ होकर अपनी माया से उसे चलाते रहते हैं । (गीता १८/६१)

७. हे पार्थ, मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं । (गीता ४/११)

८. हे अर्जुन, तुम सर्वतोभावेन उन्हीं की शरण लो । (गीता १८/६२)

आलोचना की है। इसी प्रकार उनकी ओर अग्रसर होओ, उनकी कृपादृष्टि की प्रतीक्षा करो, समय आने पर उनकी कृपादृष्टि होगी और जीवन धन्य हो जाएगा। अब भी जीवन धन्य ही है, उनका चिन्तन कर पा रहे हो, और चाहिए ही क्या?

— ११३ —

भगवान के प्रति तुम्हारी प्रेम-निर्भरता आदि में जो अधिकाधिक वृद्धि हो रही है, यह तुम्हारा पत्र पढ़कर मैं ठीक-ठीक समझ गया। इससे तुम्हारे प्रति भगवान की विशेष कृपा का परिचय मिलता है। प्रभु तुम्हें और भी श्रद्धा, भक्ति तथा हृदय में बल दें। तुम तुच्छ व असार विचारों से मुक्त होकर क्रमश: उन्हीं की ओर अग्रसर होओ और एकमात्र उन्हें ही अपना मन-प्राण अर्पित करो, उन्हें ही जीवन का एकमेव अवलम्बन जानकर उन्हीं की अनन्य शरण लो। इसी से समस्त ताप-यंत्रणा, समस्त अभाव-अपूर्णता दूर होगी और तुम्हें परम आनन्द की उपलब्धि होगी।

तुम पूर्व की ओर जितना ही बढ़ोगे, पश्चिम दिशा उतनी ही पीछे छूटती जायगी। हृदय में जितना ही अधिक प्रभु का भाव धारण कर सकोगे, सांसारिक भाव तथा चिन्तन उतने ही दूर हो जाएँगे। उन्हें दूर करने के लिऐ कोई विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता ही न होगी। दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा तथा प्रेम के साथ भगवद्भाव का हृदय में पोषण करना पड़ता है, तभी वह स्थाई होता है।

सर्वदा प्रार्थनाशील होना चाहिए। नियमित रूप से उन्हें अपने हृदय की बातें कहते रहने से वे सुना करते हैं। तुम्हारी प्रार्थना का तरीका जानकर आनन्दित हुआ हूँ। उनसे प्रेम, भक्ति, अनुराग के लिए ही प्रार्थना की जाती है; क्योंकि ये ही दुर्लभ चीजें हैं और इन्हें पाने पर अन्य किसी भी वस्तु का अभाव नहीं बोध होता। तब हृदय मधुमय हो जाता है और सभी अवस्थाओं में पूर्ण शान्ति का अनुभव होता है। उनके द्वार पर पड़े रहना ही कर्तव्य है, फिर सब कुछ अपने आप ही ठीक हो जाता है। वे स्वयं ही सब कर देते हैं।

स्वास्थ्य कभी अच्छा होता है, तो कभी बिगड़ता है; शरीर का धर्म ही ऐसा है। परन्तु मूल बात यह है कि इसकी गति विनाश की ओर है। शरीर चिरस्थायी नहीं है, एक न एक दिन यह जाएगा ही। अत: इसके सम्बन्ध में और क्या कहूँ? प्रभु के श्रीचरणों में मन को रख पाने से देहधारण सार्थक हो जाता है।

अपने को पूर्णरूपेण उनके चरणों में समर्पित कर निश्चिन्त हो जाओ, इससे बड़ा कल्याण का दूसरा कोई उपाय नहीं।

— ११४ —

तुम्हारा पत्र पाकर आनन्द हुआ। प्रभु से तुमने सब बहुत ही अच्छी प्रार्थना की है। अति उत्तम! इसी प्रकार उनसे अपने प्राण का आवेग व्यक्त करना होगा। वे अन्तर्यामी हैं, प्राण से निकली हुई प्रार्थना वे नि:सन्देह पूरी करते हैं, भगवान के श्रीचरणों में मन लगाने का प्रयास करो, वे निश्चय ही सहायता करेंगे। जब मन मलिन होता है, तभी सन्देह प्रगट होते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखना कि मन में स्वार्थ-भाव न आने पाए। अपने आपको उनके श्रीचरणों में बेच डालना होगा, बिक जाने पर फिर उन्हें ढूँढ़ना न होगा। "भव के हाट में यह देह बेचकर मैंने दुर्गानाम खरीद लिया" – यही भाव ठीक तौर से रख पाने पर कोई भय-चिन्ता नहीं रहती। धीरे धीरे सब हो जाता है। "हे मन, शंकरी के चरणों में मग्न होकर रहो और अपने सारे कष्टों का निवारण करो। ये तीनों जगत् मिथ्या हैं, तुम व्यर्थ ही इसमें घूम-फिर रहे हो। हृदय में कुलकुण्डलिनी ब्रह्ममयी का ध्यान करो। कवि कमलाकान्त कहते हैं कि श्यामा-माँ के गुण गाते हुए, इस सुख की नदी में अपनी नौका को धीरे धीरे खेते रहो।"[१] सुख की नदी समझ कर धीरे धीरे खेना होगा, कोई जल्दी नहीं। माँ को पुकारे जाना होगा, और चाहिए ही क्या? उन्हें पुकार पाकर ही स्वयं को धन्य समझना, इसके अलावा कोई और चाह हो, तो वह वासना है। वासना रहने से अविश्वास, संशय, अशान्ति आदि अब आते हैं। अत: सावधान! माँ को पुकारना छोड़ मन में दूसरी कोई भी इच्छा न आने पाए। नहीं तो मुश्किल है। माँ क्रमश: सब कुछ समझा देगीं। प्रार्थना करना कि जितना तुम समझ सके हो, उसे वे कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति दें। मन-मुख एक हो जाने पर सब ठीक हो जाएगा।

मेरी हार्दिक शुभ-कामनाएँ तथा स्नेह स्वीकार करना। प्रभु जहाँ भी रखें, उनके श्रीचरणों में मन लगा रहे – यही सर्वोपरि प्रार्थना है।

❖(क्रमश:)❖

१. एक बँगला भजनांश का भावानुवाद
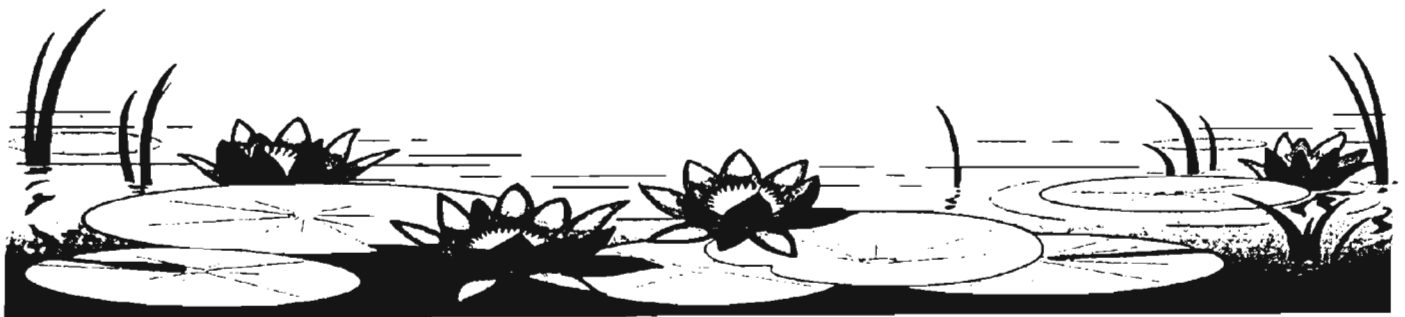
चरित्र की उदारता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

छान्दोग्य उपनिषद् में ईश्वर को 'भूमा' कहा है, जिसका व्यापक दृष्टि से अर्थ है 'महान्'। हमें ईश्वर को सकीर्ण धर्म-सम्प्रदायों और मनों के स्तर पर नहीं ले जाना चाहिए। ईश्वर महान् है - यथार्थतः महान्। उसकी महानता में सब कुछ सम्मिलित है। जब हम कहते हैं कि ईश्वर महान् है और दूसरे ही क्षण जब हम सोचते हैं कि ईश्वर ईसाइयों का है, या यहूदियों का, या हिन्दुओं का, या मुसलमानों का, तब हम अपनी ही बात कहते हैं। यदि ईश्वर महान् है, तो वह सब वस्तुओं से महान् होगा - समुद्र से महान्, आकाश से महान्, मन से महान्, जीवन से महान्, मृत्यु से महान्, सभी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं से भी महान्। हम ऐसा नहीं कह सकते कि ईश्वर केवल मानव-इतिहास का पूरक है; ऐसा भी नहीं कह सकते कि वह किसी विशेष जनसमूह का उद्धारक है। यह सत्य है कि ईश्वर काल के अन्तर्गत होनेवाली समस्त घटनाओं और इतिहास की विशिष्टताओं के लिए उत्तरदायी है, पर उतने में ही वह चुक नहीं जाता। वह अक्षय है। वह इतिहास से, काल से, हमारे मत-सम्प्रदाय और ग्रन्थों से भी महान् है। ईश्वर का एवंविध चिन्तन करने से हममें चरित्र की यथार्थ भव्यता निखर उठेगी। हम प्रायः वर्षों धार्मिक जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु हम अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को उदार नहीं बनाते। इसका कारण यह है कि हमारी ईश्वर सम्बन्धी धारणा सकुचित और साम्प्रदायिक होती है। इससे हमारे चरित्र में परिवर्तन नहीं हो पाता। हम जैसे सकीर्ण मानव जन्मे थे, वैसे ही रहते हैं। हम धार्मिक कहाते तो हैं, पर हमारा हृदय नहीं खुलता। अतः हमें महान् ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए और उसकी महानता का भागी बनना चाहिए। महानता का अर्थ है - आध्यात्मिक पूर्णता - अज्ञान, सकीर्णता, कट्टरता और द्वेष से मुक्ति, राग और पक्षपात से मुक्ति।

चरित्र को उदार बनाने के लिए यही साधन-प्रणाली है। यदि हममें धैर्य और अध्यवसाय है, तो अवश्य ही हमें साधना में सिद्धि मिलेगी। उस सिद्धि का रूप कैसा होगा? तब हम भी सन्त फ्रांसिस के साथ मिलकर प्रार्थना कर सकेंगे - "हे प्रभो, मुझे शान्ति का अपना एक यत्र बना लो। जहाँ घृणा हो वहाँ मुझे प्रेम बोने दो, जहाँ प्रहार हो वहाँ क्षमा, जहाँ सशय हो वहाँ विश्वास, जहाँ निराशा हो वहाँ आशा, जहाँ अन्धकार हो वहाँ प्रकाश और जहाँ उदासी हो वहाँ प्रसन्नता।" विचार करें कि एक व्यक्ति अपने चरित्र को उदार बनाने की साधना में सिद्ध होकर अपने चारों ओर शान्ति, आनन्द, बल, प्रेम और विश्वास विकीर्ण कर रहा है। क्या यह समाज की सच्ची सेवा नहीं है? मानवता निःस्वार्थ प्रेम और पवित्रता चाहती है, शान्ति और सहानुभूति की अभिलाषा रखती है। इसकी पूर्ति उसे विज्ञान से नहीं होगी, न शिल्प-विज्ञान से, न राजनीति से और न सन्धि-समझौतों से; बल्कि पूर्ति तब होगी, जब उसे उदात्तचरित्र, महामना पुरुषों का सग प्राप्त होगा। समाज को विद्वानों और राजनीतिज्ञों की अपेक्षा ऐसे पवित्र स्त्री-पुरुषों की अधिक आवश्यकता है, जिनका चरित्र निर्मल हो और जिनकी कथनी तथा करनी में कोई अन्तर न हो। हमें आशा, उत्साह और धैर्य के साथ चरित्र को उदार बनाने की इस साधना में लग जाना चाहिए। इसमें सिद्धि केवल हमारे अपने लिए ही उपकारी नहीं होती, बल्कि वह हमारे आसपास के लोगों के लिए, मित्रों के लिए, पड़ोसियों के लिए और समाज के लिए वरदान स्वरूप होती है, क्योंकि उदार चरित्र एक ऐसा सर्वोच्च मूल्य है, जिसकी हम व्याख्या तो नहीं कर सकते, पर जिसका अनुभव हम सहज ही कर सकते हैं तथा जिसे हम प्रयत्न करने पर अपने अधिकार में ला सकते हैं। ऐसे व्यक्ति ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुरोधा होते हैं।
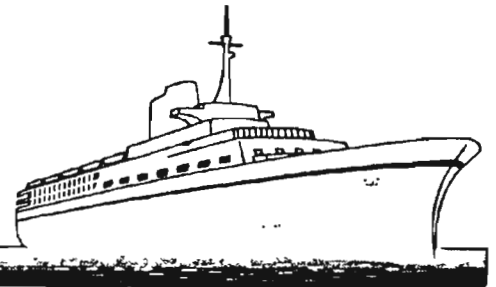
चिन्तामुक्ति का रसायन : एक चिन्तन

स्वामी सत्यरूपानन्द

(गतांक से आगे)

चिन्तन का प्रारम्भ कहाँ से करें, कैसे करें? मुण्डक उपनिषद् में ऋषि कहते हैं – **'परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् ब्राह्मणः निर्वेदं आयात्'** – चिन्तन का प्रारम्भ परीक्षा से करना होगा। किसकी परीक्षा? कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों की। लोक अर्थात् यह पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, पाताल आदि।

ये सभी मनुष्य को अपने शुभ अशुभ कर्मों से ही प्राप्त होते हैं। जहाँ हम रहते हैं, व्यवहार करते हैं, वह भी तो लोक ही है। इस दृष्टि से हमारा शरीर भी तो एक लोक है। वह भी हमें कर्म से ही प्राप्त हुआ है।

अत: सर्वप्रथम हमें अपने शरीर की ही परीक्षा करनी चाहिए। हमारा शरीर परिवर्तनशील है। शैशव, बाल्य, कैशोर्य, तारुण्य, प्रौढ़त्व, वार्धक्य आदि शरीर की अनिवार्य अवस्थाएँ हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं है।

शरीर की अन्तिम नियति विनाश या मृत्यु है। इस परीक्षा से हमे दो फल प्राप्त हुए – शरीर परिवर्तनशील है, नश्वर है।

अब हमें इस पर चिन्तन करना है। बिना किसी अचल वस्तु के हमें चल का बोध नहीं हो सकता। सड़क पर गाड़ी चलती है, गाड़ी की तुलना में सड़क अचल है। इसलिए गाड़ी चलने का हमें बोध होता है।

हमारा शरीर भी तो निरन्तर चल रहा है। किशोर अवस्था से यौवन की ओर, यौवन से बुढ़ापे की ओर और बुढ़ापे से विनाश या मृत्यु की ओर।

शरीर की इस चलन अवस्था का, इस परिवर्तन का बोध हमें तभी होता है, जब हमारे भीतर कोई अचल अपरिवर्तनशील तत्त्व हो। वह है। वह हम स्वयं हैं। उसी को शास्त्रों ने आत्मा कहा है। वही हमारा स्वरूप है।

वह अजन्मा है, अजर है, अमर है। उसकी उपलब्धि करके, उसमें प्रतिष्ठित होकर ही व्यक्ति सभी प्रकार के भय और चिन्ताओं से मुक्त हो परमानन्द की प्राप्ति करता है।

अब जिस पृथ्वी या मर्त्यलोक में हम रहते हैं उसकी भी परीक्षा करके देखें। हमसे भिन्न जो लोक हैं, वे भी उत्पत्ति-विनाशशील हैं। वे भी काल के प्रभाव से छीजते हैं तथा नष्ट हो जाते है।

लोकों की रचना भी मनुष्य को विभिन्न प्रकार के अनुभवों द्वारा लोको की ससीमता तथा निस्सारता का अनुभव करा कर उसे आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने के लिए ही हुई है। अपने शुभ-अशुभ कर्मो के परिणाम स्वरूप मनुष्य विभिन्न लोकों में जाकर वहाँ के सुख-दु:खों का अनुभव कर उनकी क्षणभंगुरता एवं व्यर्थता को जानकर उनकी ओर से विमुख होता है। तभी उसके मन में विभिन्न सुख भोगों की आकांक्षा क्षीण होती है तथा धीरे धीरे उसके मन में उदासीनता और वैराग्य का उदय होता है।

विषय भोगों की ओर उदासीनता और उनसे वैराग्य आध्यात्मिक साधना के लिए अनुकूल मनोवृत्ति तैयार करते हैं। ऐसी मनोभूमि में ही साधना के बीज अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते हैं।

* * *

मानव व्यक्तित्व – लोकों की परीक्षा के पश्चात् अब हम अपने व्यक्तित्व की भी परीक्षा करें, उसका विश्लेषण करके देखें कि मानव व्यक्तित्व में कौन कौन से तत्त्व विद्यमान हैं?

हमारे व्यक्तित्व का बाह्य रूप हमारा शरीर है। इससे हम सभी परिचित हैं। हमारे शरीर में इन्द्रियाँ हैं; आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर आदि कमेन्द्रियाँ हैं। इनसे भी हम परिचित हैं।

शरीर तथा इन्द्रियों के पीछे या कहें उनके साथ हमारे भीतर मन नाम का भी एक तत्त्व है। हमारे मन में इच्छाएँ होती हैं। हमारा मन प्रसन्न होता है, कभी खिन्न होता है, कभी उदासीन होता है, तो कभी हतोत्साहित होता है। अपने मन से हम परिचित हैं।

इस मन के पीछे हमारे भीतर और एक शक्ति है जो विचार करती है, अच्छे बुरे की पहचान करती है। आगे पीछे का सोचती है, फिर निर्णय करती है। यही शक्ति मन पर भी नियंत्रण करती है। इसे हम बुद्धि के रूप में जानते हैं।

इस बुद्धि के पीछे भी एक शक्ति है, एक तत्त्व है। किन्तु साधारण अवस्था में हमें उसका अनुभव नहीं होता। शरीर, मन और बुद्धि के जाल में हम इतने अधिक उलझे रहते हैं कि इन सबके पीछे सबका आधार, आश्रय या स्वामी जो तत्त्व है, जिसे हमारे शास्त्रों में आत्मा कहा गया है। उसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता और इस कारण शरीर, मन और बुद्धि हमें जैसा चाहे वैसा नचाते रहते हैं।

दु:ख और अशान्ति की जड़

हम सभी अपने जीवन में अधिकांश समय दु:ख और अशान्ति के चंगुल में फँस जाते हैं। न चाह कर फँस जाते हैं। ऐसा क्यो होता है इसे गहराई से समझ लेना होगा। इसकी सूक्ष्म परीक्षा कर लेनी होगी कि आखिर हमारे दु:खों और अशान्ति की जड़ें हैं कहाँ?

सूक्ष्म परीक्षा करने पर, गहराई से विचार करने पर, हमें यह समझ में आता है कि हमारी ही अपनी भूल के कारण हम दु:ख और अशान्ति के गर्त में पड़े हैं। अपनी ही इस महान

भूल का कारण मानो हम अपने मूल से ही कट गये हैं । सभी शास्त्र सभी अनुभूति सम्पन्न महापुरुष हमें बताते हैं कि आत्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप हैं । वह सत् अर्थात् सदैव रहने वाला अजर, अमर, अविनाशी है ।

चित् अर्थात् ज्ञान स्वरूप है । आत्मा सभी ज्ञान का असीम अनन्त अखण्ड भण्डार है ।

आनन्द अर्थात् आत्मा सर्वथा सर्वदु:ख रहित असीम परमानन्द स्वरूप है । वही हमारा वास्तविक स्वरूप है । उसे हम भूल बैठे हैं और उसी भूल के कारण हम दु:ख और अशांति के चंगुल में पड़े हुए छटपटा रहे हैं ।

हमें अपने दु:ख और अशान्ति के इस मूल कारण पर विचार करना होगा । उस प्रेय और योगक्षेम की चिन्ता के कारण हमारी चेतना मूर्छित हो गयी है । हमारे जीवन व्यवहार इसी मूर्छित अवस्था में ही चल रहे हैं और हम सभी जानते हैं कि मूर्छित अवस्था में हमारा आचरण कभी भी स्वस्थ, सुष्ट और कल्याण प्रद नहीं हो सकता ।

श्रेय के सतत् चिन्तन से हमारी यह मूर्छा दूर होगी । हमारी चेतना जागृत हो जायेगी । जागृत चेतना के द्वारा ही व्यक्तित्व को सुगठित कर सँवारा जा सकता है । कठोपनिषद् (१/३/३-४) में मानव व्यक्तित्व की तुलना रथ से की गयी है ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयान् आहु: विषयान् तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुः मनीषिणः।।

– अर्थात् यह शरीर रथ है, इसका रथी या सवार आत्मा है । इन्द्रियाँ घोड़े हैं, संसार के विषय उन घोड़ों के विचरने के मार्ग हैं, मन लगाम है और बुद्धि सारथी है । इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता या मानव-व्यक्ति है ।

रथ तभी ठीक चल सकता है, सन्मार्ग पर चलकर रथी को गंतव्य पर पहुँचा सकता है जब सारथी सजग और सावधान हो; तथा उसने लगाम के द्वारा घोड़ों को वश में रखा हो ।

यदि सारथी असावधान हो, मूर्छित हो, तो रथी कभी गंतव्य पर नहीं पहुँच पायेगा, उल्टे किसी गर्त में गिर कर महान कष्ट का भागी होगा । अत: श्रेय की साधना के लिए, उसकी उपलब्धि के लिए हमें अपने व्यक्तित्व पर चिन्तन करना होगा, उस पर विचार करना होगा ।

पहिले यह देखना होगा कि इन्द्रियरूपी घोड़े विषयों के गोचर में अर्थात् विषयों के पीछे अनियत्रित और उच्छृंखल होकर तो नहीं भाग रहे हैं । यदि भाग रहे हों, तो तत्काल सावधान होकर सारथी बुद्धि को जताना होगा कि देखो मनरूपी लगाम ढीली हो गयी है । इन्द्रिय रूपी घोड़े अनियंत्रित होकर विषयों के पीछे भाग रहे हैं । सजग हो कर लगाम खींचो और घोड़ों को विषयों की ओर जाने से रोको ।

सारथी को जगाने का, उसे सावधान और सक्रिय करने का काम विवेकपूर्ण चिन्तन ही कर सकता है । यह विवेक प्रेय और श्रेय की तुलना कर, प्रेय के दु:खदायी और विनाशकारी परिणामों को विचार के द्वारा मन की आँखों से देखने पर तथा श्रेय के कल्याणकारी एवं परमशान्तिप्रद फलों को भी मानसिक दृष्टि के सामने रखने पर ही जागता है ।

और यह कार्य चिन्तन से ही सम्भव है ।

इन्द्रिय निग्रह के लिए उच्च लक्ष्य आवश्यक – यहाँ एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक कठिनाई उत्पन्न होती है । बिना किसी अधिक आकर्षक, अधिक सुखदायी, उच्च आदर्श के केवल इन्द्रिय निग्रह के लिये ही इन्द्रियों को विषयों के पीछे भागने से नहीं रोका जा सकता । मन और इन्द्रियों को अभी जो सुख मिल रहे हैं, उनसे अधिक तथा दीर्घकालीन सुख की प्राप्ति की सम्भावना का आश्वासन जब तक मन को नहीं दिया जायेगा, तब तक इन्द्रिय-निग्रह रेत पर बने भवन के समान होगा, जो हवा के पहिले झोंके में ही धराशायी हो जायेगा ।

लोभनीय आदर्श – ऐसा कौन सा वह आदर्श है जो कि इतना लोभनीय हो कि मन और इन्द्रियाँ उसकी ओर आकर्षित हों? हमारे शास्त्रों ने मानव जीवन की सभी समस्याओं का समाधान कर जीवन की सफलता और परमकल्याण की सभी व्यवस्थाएँ कर रखी हैं ।

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं – **कश्चित् धीरः अमृतत्वं इच्छन् आवृतचक्षुः प्रत्यग् आत्मानम् ऐक्षत्** (कठ. २/१/१) – किसी धीर पुरुष ने अमृतत्व की इच्छा कर आँखें मूंद लीं (और उसने) अन्तरात्मा को देख लिया ।

मृत्यु को जीतने की, अमर होने की इच्छा सभी मनुष्यों में स्वाभाविक है । चिन्तन के द्वारा यदि हम संसार के अन्य आकर्षणों से आँखें मूँद कर अपने मन की आँखों के सामने अमरता प्राप्त कर लेने की सम्भावना रखें तथा उसके सामने उन महापुरुषों का उदाहरण रखें जिन्होंने संसार के दूसरे आकर्षणों की ओर से आँखें मूँदकर आत्मा का दर्शन कर लिया और अमर हो गये तो हमारा मन और इन्द्रियाँ इन्द्रिय निग्रह के आदर्श को स्वीकार कर लेंगे ।

जीवन परिवर्तन का निश्चय – परमात्मा ने मनुष्य की रचना अपने ही अनुरूप की है । मनुष्य को उसने असीम आध्यात्मिक सामर्थ्य प्रदान किया है । उचित मार्ग-दर्शन में संयम और अभ्यास से मनुष्य अपनी इस सुप्त आध्यात्मिक सामर्थ्य को जगाकर इसी जीवन में जरा-मृत्यु से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति कर सकता है ।

मनुष्य में यह अद्भुत शक्ति है कि यदि वह निश्चय कर ले तो जीवन की किसी भी अवस्था में, किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन में एक नया अध्याय प्रारम्भ कर सकता है, जीवन को नये सिरे से जी सकता है । मनुष्य के भीतर स्वयं

को परिवर्तित करने की अद्‌भुत क्षमताएँ सन्निहित हैं ।

कोई एक विशेष घटना, कोई परिस्थिति विशेष, मनुष्य की इस सामर्थ्य को जागृत कर सकती है और मनुष्य उस अवसर विशेष का लाभ उठाकर दृढ़ निश्चय कर ले, तो वह अपने जीवन में आमूल परिवर्तन कर सकता है ।

भारत में प्रसिद्ध सम्राट् अशोक, जो अब प्रियदर्शी अशोक के नाम से जाने जाते हैं; एक दिन था जब कि वे कठोर, निर्दय, क्रूर, चण्ड अशोक के नाम से जाने जाते थे ।

अशोक के समय मगध का साम्राज्य सशक्त और समृद्ध था । अशोक स्वयं एक निरंकुश सम्राट् था । किन्तु दूसरा एक समृद्ध राज्य – कलिंग प्रदेश भी उस समय भारत में था ।

इस समय अशोक के मन पर अहंकार और भोग लिप्सा का अधिकार था । उसकी चेतना मूर्छित थी । सम्राट् के पास उचित अनुचित का विचार करने का समय नहीं था । आपात सुख देनेवाले प्रेय का भूत अशोक के सिर पर सवार था ।

कलिंग का समृद्ध राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर रहे, यह वह कैसे सहन कर सकता था! उसका अहंकार जागा । साम्राज्य विस्तार की लिप्सा प्रबल हो उठी । उसने कलिंग विजय का निश्चय किया । मगध की विशाल सेना कलिंग को रौंदने के लिये निकल पड़ी । कलिंग के लोगों ने बड़ी दृढ़ता और शूर वीरता से मगध की सेना से लोहा लिया । एक लाख लोग रणभूमि में मारे गये । डेढ़ लाख लोग बन्दी बनाये गये । कलिंग को पूर्णत: जीत लिया गया । रणभूमि के बाहर भी बड़ी संख्या में लोग मारे गये ।

विजयी सम्राट् ने मानव रक्त से सराबोर अपनी विजय को, अपनी सफलता को देखा ।

चारों ओर क्षत-विक्षत मानव देह! रणभूमि के बाहर रोते बिलखते अनाथ बच्चे, करुण क्रन्दन करती विधवाएँ, हृदयविदारक रुदन करती माताएँ!

विजयी सम्राट् का हृदय दहल उठा । विजय मेरी अवश्य हुई, किन्तु क्या मिला मुझे इस विजय से ।

इन लाखों लोगों के व्यथा विदीर्ण हृदयों का अभिशाप! विधवाओं के ऑसू! माताओं का करुण क्रन्दन!

कलिंग प्रजा की मेरे प्रति घृणा! क्या लाभ हुआ इस जघन्य कृत्य के द्वारा साम्राज्य का विस्तार कर!

अपनी ही क्रूरता के कठिन आघात ने विजयी अशोक की चेतना को झकझोर कर जगा दिया । उसका मन विषाद और चिन्ता से व्याकुल हो उठा ।

वह सोचने लगा – इस व्याकुलता से मुक्त होने का क्या कोई उपाय है?

साम्राज्य का और अधिक विस्तार, और अधिक धन, सम्पत्ति!! विषय सुख!!

नहीं, ये सब उपाय उसके मन के क्षोभ को, दुख को दूर नहीं कर सकते । उसने इन सब का जी भर कर उपभोग किया था । साम्राज्य विस्तार की लिप्सा ने ही उससे कलिंग नर संहार का जघन्य कृत्य करवाया था । अत: ये उपाय उसके मन के क्षोभ और विषाद को दूर नहीं कर सकते ।

विजयी सम्राट के मन में चिन्तन चलता रहा । चिन्तन ने विवेक को जागृत किया । विवेक ने दिशा दिखायी । सम्राट् अशोक की अन्तर आत्मा ने कहा साम्राज्य विस्तार नहीं, हृदय विस्तार के द्वारा ही मन के विषाद और क्षोभ से मुक्ति पायी जा सकती है ।

शत्रु सेना पर विजय के द्वारा नहीं, आत्म-विजय के द्वारा ही मन की व्याकुलता से मुक्त हुआ जा सकता है ।

चिन्तन ने अशोक के लिये श्रेय का मार्ग प्रशस्त किया और अशोक भगवान बुद्ध के बताये हुए मार्ग पर चलकर प्रियदर्शी अशोक बन गया ।

समाट अशोक अपने जीवन में परिवर्तन करने का दृढ़ निश्चय किया और क्रूर अशोक दयालु प्रजापालक धर्मरक्षक प्रियदर्शी सम्राट अशोक बन गया ।

* * *

विचारों में परिवर्तन, श्रेय-चिन्तन का प्रथम सोपान

विचारों में परिवर्तन से ही श्रेय का चिन्तन प्रारम्भ होता है । आत्म निरीक्षण के द्वारा देखना होगा कि हमारे मन में कौन से विचार प्रधान हैं ।

प्रेय सम्बन्धी विचार, संसार के सुख भोगने की आकांक्षा, उसकी कल्पना । यदि ऐसा है तो सावधान हो जाना चाहिए । ये विचार, ये आकांक्षाये हमें श्रेय के मार्ग से दूरकर प्रेय के गर्त में गिरा देंगी ।

भोगवादी विचारों से कैसे बचें? भगवान कृष्ण गीता (३/८) में इसका उपाय बताते हैं । **जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःखदोष अनुदर्शनम्** – जन्म, मृत्यु बुढ़ापा रोग आदि के दुख और दोषों पर बारम्बार विचार करना ।

संसारिक भोगों के परिणाम स्वरूप होनेवाले दुःखों और उसके दोषों पर बारम्बार विचार करने पर हमारा मन उनसे विरत होने लगेगा । इसके साथ ही जब हम श्रेय से या भोगों के त्याग से होने वाले परम सुख और शान्ति पर विचार करेंगे तब हमारा मन श्रेय की ओर झुकेगा । उसमें रुचि लेगा और तब हम श्रेय का चिन्तन करने लगेंगे । श्रेय के चिन्तन से धीरे धीरे हमारा मन शुद्ध और निर्मल होता जायेगा ।

चरित्र चिन्तन – यह श्रेय के चिन्तन का अभ्यास करने का एक सहज और सशक्त उपाय है । उन महानुभावों या महापुरुषों के जीवन का चिन्तन जिन्होंने अपने जीवन में श्रेय का चिन्तन और आचरण किया है उनके चरित्र की विशेषताओं,

गुणों, आदतों आदि के बारे में सविस्तार जानकारी प्राप्त करना तथा उस पर विचार करना, उनका चिन्तन करना तथा उन गुण को अपने आचरण में लाना श्रेय चिन्तन का बहुत अच्छा उपाय है। इस प्रकार के उपाय से भी मन श्रेय चिन्तन की ओर आकृष्ट होता है। उसकी रुचि श्रेय से प्राप्त होनेवाले सुफल की ओर होने लगती है। प्रेय या भोग का आकर्षण कम होने लगता है। तथा क्रमश: हमारा चित्त शुद्ध होने लगता है।

सत्संग – श्रेय के चिन्तन तथा तदनुसार स्वयं के चरित्र-गठन का सर्वश्रेष्ठ उपाय है – उन महानुभावों, साधकों का संग करना जो लोग श्रेय चिन्तन तथा उसके आचरण के प्रयत्न में लगे हैं।

ऐसा सत्संग यथासाध्य अधिक से अधिक करते रहना चाहिए। सत्संग से हमारे विचारों में, हमारी चेतना में, शीघ्र परिवर्तन घटित होता है। और विचारों तथा चेतना में परिवर्तन होने पर उनका आचरण करना सहज हो जाता है।

इस प्रकार श्रेय के चिन्तन से हमारा मन धीरे धीरे प्रेय के चंगुल से छूटकर शुद्ध हो जायेगा। और यदि हमने निष्ठापूर्वक श्रेय चिन्तन की साधना को चालू रखा, तो एक दिन हम सभी चिन्ताओं और दु:ख से मुक्त होकर परम श्रेय को उपलब्ध कर सकेंगे। तथा हमारा जीवन सार्थक और धन्य हो जायेगा।

विद्यापीठ में संघ के महासचिव

विगत १५ नवम्बर २०००, बुधवार को सुबह ११ बजे रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ के महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज ने रायपुर के विवेकानन्द विद्यापीठ में प्रस्तावित ग्रन्थालय भवन का शिलान्यास किया। तदुपरान्त उस अवसर पर आयोजित सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो व्याख्यान दिया, उसका सार-संक्षेप इस प्रकार है –

स्वामी सत्यरूपानन्द जी, मेरे संन्यासी भाइयो, डॉ. ओमप्रकाश जी वर्मा, सज्जनो, देवियो और प्यारे बच्चो! रायपुर के इस सुन्दर विद्यापीठ में ग्रन्थालय-भवन और प्रार्थना-गृह की आधार-शिला रखकर मुझे परम हर्ष हो रहा है। याद आता है – आज से ग्यारह साल पहले मैं रायपुर आया था – वह एक विषाद का क्षण था। मेरे मित्र – स्वामी आत्मानन्द जी के देहावसान के बाद मैं यहाँ उस दिन स्मृति-सभा में शामिल होने के लिये आया था। उसके बाद मैंने नारायणपुर जाकर उस प्रार्थना-कक्ष का उद्घाटन किया, जिसका स्वामी आत्मानन्द जी उद्घाटन करनेवाले थे। तदुपरान्त मैं बेलूड़ मठ लौट गया।

बड़े हर्ष की बात है कि ओमप्रकाश जी तथा उनके अनेक सहयोगियों ने मिलकर इस सुन्दर विवेकानन्द विद्यापीठ का निर्माण किया है। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे – मनुष्य-निर्माण और चरित्र-गठन करनेवाली शिक्षा के बारे में। आज आजादी के बाद हम 'मेरा भारत महान्' तो कहते हैं, परन्तु भारत महान् कहाँ है? आजादी के पचास साल बाद भी समाज की ओर देखने पर हम पाते हैं कि अनपढ़ मनुष्यों की संख्या भारत में इतनी अधिक है कि सारे विश्व के कुल अनपढ़ों में से आधे भारत में है। और बहुत कुछ जो समाज के दलितों और पिछड़े वर्ग के लोगों की उन्नति के लिये जरूरी है, उसे हम कर नहीं पा रहे हैं। हम भूल रहे हैं कि लगभग हजार साल भारत पराधीन रहा। क्यों पराधीन होना पड़ा? इस विषय में इतिहास की चेतावनी हम नहीं सुन पा रहे हैं। यह चेतावनी नई पीढ़ी को सुनाना जरूरी है। और इसलिए समर्पित व्यक्तियों की बड़ी आवश्यकता है। व्यक्ति जब तक समर्पित नहीं होता, तब तक काम अच्छी तरह नहीं होता। बहुत-से लोग हमसे पूछते हैं कि हम अपने चारों ओर जो बहुत-सी गन्दगी देख रहे हैं, बहुत-सी बुराइयाँ देख रहे हैं, पर रामकृष्ण-भावधारा की संस्थाएँ अच्छी तरह कैसे कार्य कर पा रही हैं? इसका एकमात्र कारण है – इन संस्थाओं में समर्पित व्यक्ति लगे हुए हैं। बहुत न हों, तो भी कुछ समर्पित लोग रहने पर भी काम अच्छी तरह होता है। हमें आजादी इसलिए मिल सकी, क्योंकि हजारों समर्पित व्यक्ति थे; जो आजादी की लड़ाई में शामिल हुए थे। लेकिन उसके बाद हमारा लोभ बहुत बढ़ गया। बहुत-से लोग मुझसे यह पूछते हैं, "स्वामीजी, यह क्यों हुआ, स्वाधीन भारत में बहुत कुछ नहीं हो रहा है, ऐसा क्यों हुआ?" मैं कहता हूँ, "देखो, जब राम-रावण युद्ध हो रहा था, तो कुम्भकर्ण सो रहा था। कुम्भकर्ण साल में छह महीने सोता ही रहता था। मेघनाद के वध के बाद रामचन्द्र जी से युद्ध करने के लिये कुम्भकर्ण के अलावा रावण के पास कोई बचा ही नहीं था। कुम्भकर्ण को नींद से जगाना जरूरी था। यह एक कठिन समस्या थी। कुम्भकर्ण को उठाने के लिये खूब शोर मचाया गया। उसकी देह पर हाथी आदि

चलाए गये, तब कुम्भकर्ण की नींद खुली। उठते ही कुम्भकर्ण कहने लगा, "देखो, तुम लोगों ने मुझे नींद से उठाया है – मुझे जोरों की भूख लगी है – कुछ खिलाओ, पिलाओ।" उसे खूब खिलाना-पिलाना पड़ा; तब वह सामान्य हुआ।

इसी तरह भारत भी हजार साल तक नींद में डूबा रहा। उस भारत को स्वामी विवेकानन्द ने धक्के मारकर जगाया। भारतवासियों ने क्या क्या भूलें की थीं, यह सब उन्होंने बताया। और इन सब भूलों को मिटाकर हमें नये भारत की रचना करने की बात बताई। इस गहरे नींद से जागने के बाद ही भारत को आजादी मिली। इस सन्देश को सुनकर भारत की आजादी के लिये अनेकों लोगों ने अपने प्राण विसर्जित कर दिये। वैसे तो आजादी के बाद काफी-कुछ प्रगति हुई है, लेकिन उतनी तरक्की नही हो पायी है, जितनी कि अपेक्षित थी। इस प्रगति के लिये आत्मसमर्पित लोगो की संख्या बढ़ाने की ज़रूरत है। हम आम लोगो की तरक्की और खुशहाली के लिये चिन्ता नही कर रहे हैं। हम अपने स्वयं के हित की ज्यादा चिन्ता कर रहे हैं। इस चिन्तन को बदलना होगा। इसके लिये एक नई पीढ़ी तैयार करनी होगी, जो लोभ और स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज के आम लोगों के हित की चिन्ता करे। इस तरह की शिक्षा की आवश्यकता है। आज हम देख रहे हैं कि शिक्षा की अनेक संस्थाएँ खुल गई है। लेकिन सही शिक्षा नहीं मिल पा रही हैं। तो यहाँ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की शिक्षा मिल रही है। केवल रामकृष्ण मिशन या सारदा मिशन के द्वारा ही नहीं, वरन् वे समर्पित लोग भी जो रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के अनुसार अपने जीवन को शिक्षा के उत्थान में लगाते हैं, मनुष्य-निर्मात्री शिक्षा, चरित्र-गठन करनेवाली शिक्षा दे रहे हैं। ऐसी ही एक संस्था यह विवेकानन्द विद्यापीठ है। मैंने घूमकर इसके पूरे परिसर को देखा और इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

एक जर्मन ने लिखा है कि वेदान्त – हिन्दू धर्म का हृदय है। मुझे आशा है कि आगे चलकर हिन्दू धर्म के वेदान्त को और गीता, उपनिषद्, भागवत आदि ग्रन्थो में जिन जीवन-मूल्यो की बात कही गयी है, उन्हें हम अपने जीवन में साकार रूप दे सकेगे। स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि जो वेदान्त जंगलों में, मन्दिरों मे और हिमालय की कन्दराओं में छिपा हुआ है, उसी वेदान्त को हम बाजार में लाएँ, फैक्ट्री तथा कारखानो में लाएँ, ऑफिसों तथा दफ्तरों में लाएँ और वेदान्त के इन मूल्यो के आधार पर हमारा जीवन-गठन हो। आज हम देख रहे हैं कि जात-पात के कारण हम लोगों में आपसी मनोमालिन्य तथा झगड़े हो रहे हैं। धर्म के नाम पर कितनी ही बुराईयाँ फैल रही है। इन अनेक तरह की दीवारें मनुष्य मनुष्य के बीच उठ रही। इन दीवारों को गिराना है। ऋषियों ने ऋग्वेद मे कहा है – **यत्र विश्वं भवत्येक नीळम्** – सारा विश्व, सारा संसार एक परिवार बन जायेगा। यही हमारा हजारों साल पुराना वह आदर्श है, जिसे हम भूल गये है। आज लाखो बच्चे शिक्षा पा रहे हैं, परन्तु वह प्राचीन महान् आदर्श हम बच्चों को नहीं दे पा रहे हैं। वही वेदान्त के आदर्श की शिक्षा हमें बच्चों को देनी चाहिए। आज मैंने यहाँ के बच्चों को देखा। इन्होंने इतना सुन्दर वेदपाठ किया, इतनी मधुर सरस्वती-वन्दना की। हर व्यक्ति के भीतर वही ब्रह्म और ब्रह्मत्व है। इसी को वेदान्त कहते हैं – **एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा:** – सबके अन्तरात्मा के रूप में एक वही ईश्वर है, हरेक के, चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई या कुछ ओर हो; हर व्यक्ति मे वही अन्तरात्मा विराजती है। उनको याद करके काम करने पर, समर्पित रूप से काम करने पर भारत आगे बढ़ सकता है।

पाश्चात्य विचारक भविष्यवाणी कर रहे हैं कि २१वीं सदी में भारत एक सशक्त राष्ट्र के रूप में उभरेगा। पर सशक्त होने के साथ-ही-साथ हमे चरित्रवान भी होना पड़ेगा। और शिक्षण संस्थाएँ इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर नयी पीढ़ी को शिक्षित करें। मै देख रहा हूँ कि इस विद्यापीठ में एक बड़े ही सुन्दर परिवेश का निर्माण किया गया है और भविष्य में यह और भी सुन्दर बनेगा। साथ ही यह रायपुर नगर तथा छत्तीसगढ़ प्रदेश के लिये भी एक वरदान सिद्ध होगा है। श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामी विवेकानन्द जी के आशीर्वाद से यह उत्तरोत्तर प्रगति करे, यही मेरी हार्दिक कामना है। धन्यवाद।

तदुपरान्त रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ के न्यासी तथा सह-सचिव स्वामी श्रीकरानन्द जी महाराज ने निम्नलिखित शब्दों में सभा को सम्बोधित किया –

परम श्रद्धेय स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज, अन्य श्रद्धेय तथा प्रिय श्रोतृवृन्द! इस विवेकानन्द विद्यापीठ में आकर तथा यहाँ के बच्चो के सर्वागीण विकास के इस प्रयास को देखकर मुझे अतीव प्रसन्नता हो रही है।

आज हम सर्वत्र लोगों को खेद प्रगट करते हुए सुनते हैं कि हर क्षेत्र मे नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। न केवल भारत, अपितु सारे विश्व में यह 'नैतिक मूल्यों का ह्रास' एक विकराल समस्या के रूप में दिखाई दे रहा है। क्या पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति से इसका कोई हल निकल सकता है? आज के शिक्षित वर्ग की ओर दृष्टि डालने पर ऐसा लगता है कि हमारी हालत महाभारत के पात्र अभिमन्यु के समान हो रही है।

आप सभी जानते हैं कि अभिमन्यु वीर अर्जुन के पुत्र थे और उनकी माता सुभद्रा भगवान श्रीकृष्ण की छोटी बहन थीं। जब महाभारत का युद्ध हो रहा था, तब एक ऐसा संयोग हुआ कि अर्जुन युद्ध करते करते दूर निकल गये और उनके लिए युद्धक्षेत्र से वापस लौटना सम्भव नही रहा। और तभी अवसर देखकर द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह नामक युद्ध की व्यूहरचना की।

उस व्यूह के भीतर वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता था, जो उसकी विधि जानता हो । युधिष्ठिर के सामने एक समस्या खड़ी हो गयी, क्योंकि उनके पास अर्जुन के सिवाय दूसरा कोई योद्धा न था, जो इस व्यूह को भेदना जानता हो । इस कठिन संकट के समय तरुण अभिमन्यु आगे बढ़कर बोला कि उसे चक्रव्यूह भेदने की विधि ज्ञात है । पूछने पर उसने बताया कि जब वह माँ के गर्भ में था, तभी एक दिन विभिन्न कथाओं के बाद अर्जुन उनकी माता सुभद्रा को चक्रव्यूह-भेदन की बात समझाने लगे, पर सुभद्रा ने इसमें कोई विशेष रुचि नहीं ली और वे निद्रामग्न गयीं, अत: कथा बीच में ही बन्द हो जाने के कारण वह चक्रव्यूह के भीतर प्रवेश करने की विद्या तो जानता है, परन्तु उससे बाहर निकलने का उपाय उसे ज्ञात नहीं ।

युधिष्ठिर ने सोचा कि अभिमन्यु यदि चक्रव्यूह का भेदन कर सके, तो फिर भीम आदि योद्धाओं की सहायता से उनके साथ वापस बाहर भी आ सकता है । परन्तु अभिमन्यु जब चक्रव्यूह में प्रवेश करने लगा, तो वह केवल अकेला ही प्रवेश कर सका । बाकी योद्धा उसके साथ प्रवेश नहीं कर सके । और आप जानते हैं कि किस प्रकार सन्ध्या के समय युद्धक्षेत्र में कौरव-सेना के दुर्योधन आदि महारथियों ने घेरकर उसका वध कर डाला ।

आज हम लोग भी पाश्चात्य शिक्षा अर्जित करके अभिमन्यु के समान ही योग्यता तथा उत्साह के साथ इस संसार में प्रवेश करते हैं । और व्यवस्था के अन्दर प्रवेश करके अन्तत: तरह तरह के प्रलोभनों तथा भ्रष्ट आचरणों द्वारा पूरी तौर से ग्रस्त होकर पराभूत एवं पतित हो जाते हैं । आज हम पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित लोगों की अवस्था वैसी ही है और विशेषकर भारत में हम इसका ज्यादा ही अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि हमारे यहाँ नैतिक मूल्यों की परम्परा रही है । और स्वामी विवेकानन्द ने अपने भाषणों में बारम्बार इसका उल्लेख किया है ।

हमारे यहाँ इस परम्परा को 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' कहा गया है । संसार में प्रवेश करने की हममें जो सामर्थ्य है, वह प्रवृत्ति है । इसके साथ हम संसार में प्रवेश तो करें, हम अपना सांसारिक अभ्युदय अवश्य करें, पर उसके बाहर निकल आने की भी सामर्थ्य हममें होनी चाहिए । स्वामीजी यही चाहते थे ।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो हमें केवल चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विधि ही नहीं, बल्कि उससे बाहर निकलने की विधि भी बताए । परन्तु आज होता यह है कि जब हम शिक्षालय के गर्भ से बाहर आते हैं, तो वहाँ से हम सिर्फ प्रवेश करने की विधि लेकर ही आते हैं । कई बार यह बात उठी कि शासन इस ओर ध्यान दे । राधाकृष्णन् कमीशन, मुदलियार कमीशन आदि कई कमीशन बैठाए गये । सबने सलाह दी कि हमारी शिक्षा-प्रणाली के साथ नैतिक शिक्षा को भी संयोजित किया जाय । और जिस प्रकार सुभद्रा सो गयी थीं, वैसे ही सरकार भी सो जाती है और बात वहीं-की-वहीं धरी रह जाती है ।

तो फिर भारत की कौन-सी पद्धति थी, जिसके द्वारा भीतर प्रवेश करने के साथ-ही-साथ बाहर निकल आने की भी कला के भी प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी । यह एक विशिष्ट जीवन-शैली थी । इसके अन्तर्गत पूरे जीवनक्रम को चार आश्रमों में विभाजित कर दिया गया था – ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम । पूज्य महाराज जी ने अभी जिस वेदान्त की बात कही, उसी को जीवन में व्यावहरिक बनाने के लिये इन चार आश्रमों की परम्परा थी । और ब्रह्मचर्य आश्रम या छात्र-जीवन का पुरुषार्थ या लक्ष्य धर्म था । आज हमने धर्म का तात्पर्य मन्दिर जाने तक में ही सीमित कर लिया है । कुछ पूजा-पाठ, हवन-यज्ञ या किसी प्रवचन आदि में जाकर सत्संग कर लेना ही हम धर्म समझ लेते हैं । परन्तु धर्म का मूल उद्देश्य सत् और असत् अर्थात् अच्छे और बुरे का निर्धारण करना था । पाप और पुण्य के बीच विवेक-बोध लाना ही इसका उद्देश्य था । हमारे भीतर अभी विवेक करने की उतनी शक्ति नहीं है, इसलिए महापुरुष लोग जो कुछ कह गये हैं, हम लोग बच्चों के समान उन्हीं का अनुसरण करते जाते हैं । अभी तो तुम लोग केवल अनुकरण ही करते हो; जो कुछ हम सिखाते हैं, उसे सीख लेते हो; परन्तु बाद में क्रमश: उनका अर्थ भी समझना होगा ।

आज हम लोग सर्वदा बच्चों के समान ही अनुकरण ही कर रहे हैं । परन्तु हमें स्वयं में उस विवेक को जगाना होगा । विद्यार्थियों की यह जो परीक्षा ली जाती है, वह मानो उनके भीतर उस बुद्धि को जगाने की प्रक्रिया है । वह बुद्धि जो हमें सही-गलत के बीच निर्णय लेने में सहायता करती है । यही धर्म है । यह विद्यार्थी का पुरुषार्थ है । इस धर्म या विवेक को उसे अपने जीवन में अपनाना होगा ।

इसके बाद है गृहस्थाश्रम अर्थात् संसार में प्रवेश । और इसका पुरुषार्थ या लक्ष्य अर्थ या धन है । हम यदि भगवान बुद्ध के जीवन को देखें, तो हमें इसका बड़ा स्पष्ट अर्थ समझ में आता है । भगवान बुद्ध शस्त्र और शास्त्र की सर्वांगीण शिक्षा पाने के बाद गृहस्थ होते हैं । और तब उनके जीवन में जिज्ञासा का उदय होता है, प्रश्न उठता है कि इस जीवन का तात्पर्य क्या है? इस संसार का अर्थ क्या है? आपने उन चार प्रश्नों के बारे में सुना या पढ़ा होगा । वे चार प्रश्न! एक वृद्ध को देखकर उनके मन में जिज्ञासा होती है कि वृद्धावस्था क्या है? रोगी को देखते हैं, तो जिज्ञासा होती है कि शरीर के साथ यह रोग क्या है? एक मृत देह को देखते हैं, तो जिज्ञासा होती है कि मृत्यु के बाद क्या होता है? फिर जब वे एक भिक्षु या संन्यासी को देखते हैं, तब उन्हें ज्ञात होता है कि इससे बाहर निकलने का एक मार्ग भी है । इस प्रकार उनमें जीवन का अर्थ खोजने की जिज्ञासा होती है ।

वास्तव में इस जीवन का अर्थ खोजना – यह एक पुरुषार्थ है। हमने जो धर्मशिक्षा पायी, जो विवेक पाया, उसके माध्यम से हम यह खोजने की चेष्टा करें कि इस संसार का अर्थ क्या है – इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? सबके भीतर सुख पाने की लालसा है। परन्तु हमें जानना होगा कि नित्य सुख क्या है और उसी नित्य को पाने की चेष्टा करनी होगी। तब हमें ऐसा लगता है कि हम इस संसार में नित्य सुख नहीं पा सकते, नित्य शान्ति नहीं पा सकते। तब हमारे भीतर कल्पना होती है कि अवश्य कोई ऐसा लोक होगा, जहाँ इससे ज्यादा सुख मिल सकता हो, ऐसा कोई स्थान हो सकता है जहाँ हमें ज्यादा शान्ति मिल सकेगी और यही स्वर्ग आदि की कल्पना के रूप में सजीव हो उठती है। जब स्वर्गिक या पारलौकिक सुख पर हमारा विश्वास बैठ जाता है, तभी हमारे भीतर इस अल्प या सीमित इस अनित्य जगत् को छोड़कर उस विशाल स्वर्ग को पाने की कामना तथा पुरुषार्थ आता है। यही मानो महत्व पाने की चेष्टा है। जब यह पुरुषार्थ हमारे जीवन में आता है, तो वह वानप्रस्थ अवस्था है।

इसके बाद विचार होता है। हम वेदान्त पढ़ें, तो देखेंगे कि उसमें भी परलोक की कल्पना है, परन्तु साथ-ही-साथ विचार करने पर लगता है कि वह भी अनित्य है। उसमें भी हमें नित्य सुख नहीं मिल सकता। नित्य सुख उसी के पास है, जो सर्वत्र विद्यमान है, सर्वव्यापी है। जो यहाँ मुझमें है, वही सर्वत्र है। मानो मैं ही तो सर्वत्र हूँ। इस प्रकार वह मानो स्वयं पर – आत्मा पर विचार करने लगता है। और इस प्रकार जब वह पूरी तौर से पुरुषार्थ के लिये समर्पित हो जाता है, तो वही संन्यास है और वही मोक्ष है। जब हम पूरी तौर से अर्थ को जानने की चेष्टा करते हैं, तो वही हमारा लक्ष्य हो जाता है और वही मानो जीवन का संन्यास आश्रम है।

तो ऐसी रही है हमारे जीवन की व्यवस्था। परन्तु भगवान बुद्ध के आविर्भाव के उपरान्त जब धीरे धीरे बिना योग्यता का विचार किये बच्चे-बूढ़े सभी साधु-संन्यासी बनने लगे, तब धर्म के नाम पर कई तरह के भ्रष्ट आचरण होने लगे। तब समाज में एक ऐसा परिवर्तन आया कि अर्थ का अर्थ सम्पत्ति हो गया। गृहस्थ आश्रम का पुरुषार्थ यह हो गया कि हम कितनी अधिक-से-अधिक सम्पत्ति कमा सकें, बटोर सकें। और इस भ्रम के कारण काम का अर्थ हो गया – अधिक से अधिक सुख-भोगों को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना।

पाश्चात्य शिक्षा हमारे जीवन में यही दो पुरुषार्थ रख रही है – सम्पत्ति और भोग। और हमारी वर्तमान दुरवस्था का यही कारण है। पूरा राष्ट्र ही पतित होता जा रहा है, भ्रष्ट होता जा रहा है। इसका निराकरण करने के लिए, धर्म को स्थापित करने के लिए श्रीरामकृष्णदेव का आगमन होता है और वे हमारे सामने पुन: वही सनातन लक्ष्य रखते हैं; यदि आप 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ पढ़ेंगे, तो आप देखेंगे कि उसमें बारम्बार 'काम-कांचन' के त्याग पर बल दिया गया है। हमारे भीतर यह जो भ्रान्ति हो गयी है – अर्थ को हमने सम्पत्ति समझ लिया, यह भ्रान्ति हमें दूर करनी होगी। कांचन की भ्रान्ति को दूर करके हमें जीवन के अर्थ को अपना पुरुषार्थ बनाना है और वैसे ही काम को हमने जो कामिनी या भोग समझ लिया है, उस भ्रान्ति को दूर कर हमें मानो उस नित्य सुख को पाने चेष्टा करनी होगी। श्रीरामकृष्ण भगवत्प्राप्ति को ही जीवन का उद्देश्य बताते हैं। यही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। यही उद्देश्य होना चाहिए।

यहाँ पर जो सुन्दर परिवेश है। यहाँ जो सुन्दर शिक्षा देने का प्रयास किया जा रहा है, वह मनुष्य-निर्माण की शिक्षा है। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का इसी उद्देश्य के लिए आगमन हुआ था। इसी उद्देश्य को यहाँ विद्यापीठ अपने जीवन तथा शिक्षा में साकार कर रहा है। इसके लिये मैं भाई ओम को साधुवाद देता हूँ और उनके साथ जितने भी समर्पित लोग है, इन सबके इस कार्य की कुशलता व सफलता हेतु मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। **(प्रस्तुति : श्री गोपाल वर्मा)**
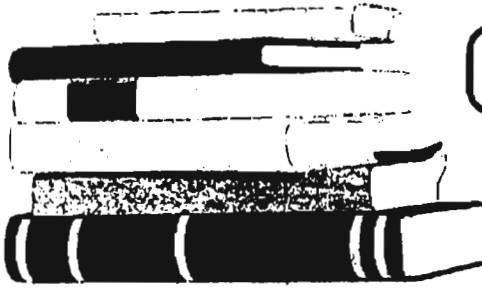
पुस्तक-वीथि

वि.

– १ –

प्रेरक बोध कथाएँ
लेखक – बाबूलाल परमार
पृष्ठ – १६० मूल्य – १५० रुपये
प्रकाशक – शुभकामना, कला निकेतन
नवीन शाहदरा, दिल्ली ११००३२

महापुरुषों के जीवन की घटनाओं तथा प्रेरक प्रसंगों के द्वारा उदात्त आदर्शों की प्रस्तुति ही शिक्षादान की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है । क्योंकि इनके द्वारा हमारे मन में साहस आता है कि जिन महान् आदर्शों के बारे में हमें चिर काल से बताया जा रहा है, वे व्यावहारिक भी हैं और महापुरुषों के जीवन की अनेक घटनाएँ इसका प्रमाण हैं – यदि वे कर सकते हैं, तो हम क्यों नहीं!

अपने ढंग की अनूठी इस पुस्तक में कुल १६८ प्रेरक घटनाओं का वर्णन है । इसमें विभिन्न देशों तथा विभिन्न धर्मों के महापुरुषों, सन्तों, विचारकों तथा राजाओं आदि के जीवन से जुड़ी महत्वपूर्ण घटनाओं का संकलन किया गया है ।

लेखक ने स्वयं इस ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है, "मेरी अभिरुचि प्रारम्भ से ही छोटी छोटी छुटपुट कथाओं को पढ़ने व सुनने की रही है । मैंने उन्हें यत्र-तत्र कुछ पत्र-पत्रिकाओं एवं बड़े-बुजुर्ग सत्संगी महानुभावों से संकलित की हैं । कथाएँ संक्षिप्त हैं, पर हैं – सारगर्भित ।"

– २ –

सत्संग-भजनावली
संकलक-सम्पादक – बाबूराम परमार
द्वितीय संस्करण पृष्ठ – २३८
मूल्य – साठ रुपये
प्रकाशक – रामगोपाल बारोदिया, 'कृष्णकुंज'
छाया, पोरबन्दर ३६०५७८ (सौराष्ट्र)

भगवान श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "व्याकुल होकर भजन गाने से ईश्वर के दर्शन होते हैं ।" उन्होंने बताया है कि बंगाल के सुप्रसिद्ध सन्त रामप्रसाद सेन काली के भजनों की रचना और गायन करके ही सिद्ध हो गये थे । अत: भजनों का कोई भी अच्छा संकलन भक्तों के लिए स्वागत योग्य होगा ।

प्रस्तुत संकलन परम संत श्री बापाजी के सत्संग तथा सान्निध्य का फल है और सम्भवत: इसी कारण काफी सुन्दर तथा मधुर बन पड़ा है । इसमें विभिन्न देवी-देवताओं, गुरु आदि से सम्बन्धित सूर, कबीर, मीरा, तुलसी, ब्रह्मानन्द आदि के कुल ३३१ हिन्दी तथा उर्दू भजन हैं । जैसा कि सम्पादक ने पुस्तक की भूमिका में सूचित किया है इसमें प्रथम संस्करण की अपेक्षा और भी अधिक भजनों तथा गजलों का संकलन किया गया है । भजनों के बाद पृष्ठ में बचे स्थान में सुन्दर, शेर या मुक्तक आदि दिये गये हैं । पुस्तक के प्रारम्भ मे कुछ नित्य पठनीय श्लोक तथा प्रार्थनाएँ भी दी गयी हैं । कुल मिलाकर यह संकलन काफी सुन्दर बन पड़ा है । एक कमी खलती है और वह यह कि प्रत्येक रचना के साथ या अनुक्रमणिका में रचयिता का नाम नहीं दिया गया है । आशा है अगले संस्करण इस ओर ध्यान दिया जायेगा ।

– ३ –

भारतेर पथे विवेकानन्द रायपुरे (बँगला ग्रन्थ)
लेखक – डॉ. शिशिर कर
मूल्य – तीस रुपये
प्रकाशक – विचार प्रकाशनी,
४६, काली बैनर्जी लेन, हावड़ा-७१११०१

विख्यात पत्रकार तथा गवेषक डॉ. शिशिर कर ने अपने 'भारतेर पथे विवेकानन्द रायपुरे' नामक बँगला ग्रन्थ में तथ्य तथा प्रमाणों के साथ स्वामी विवेकानन्द के जीवन के कई अज्ञात पक्षों को प्रस्तुत किया है । स्वामीजी ने अपने जन्मस्थान कलकत्ते के बाद सर्वाधिक काल मध्यभारत के रायपुर नगर में ही बिताया था । अब यह नगर छत्तीसगढ़ प्रदेश की राजधानी बन गया है । इस रायपुर नगर में उन्होंने डेढ़ वर्ष से भी अधिक काल यापन किया था । उनकी किशोरावस्था के ये दिन माता-पिता के सान्निध्य तथा प्रकृति के घनिष्ठ सम्पर्क में बीते । जीवन के सन्धिक्षण के इस काल के दौरान उनके मुक्त चिन्तन तथा बुद्धि का विकास हुआ, जिसने उनके नरेन्द्र से विवेकानन्द में रूपान्तरण में विशेष योगदान किया और उन्हें एक महान् सर्वगुणसम्पन्न व्यक्तित्व में परिणत कर डाला । इस छोटी-सी पुस्तिका में अब तक अज्ञात अनेक तथ्य हैं, जिसे स्वामी आत्मानन्द के विभिन्न उद्धरणों ने समृद्ध किया है । यथा स्वामी विवेकानन्द किस मार्ग से रायपुर आये । सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. निमाई साधन बसु की भूमिका ने इस पुस्तिका के महत्व को बढ़ा दिया है । आलोच्य ग्रन्थ लघु होने पर भी तथ्यों की दृष्टि से बहुमूल्य है ।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दाबन
जिला - मथुरा - २८११२१ (उ.प्र.)
फोन - ०५६५-४४२३१०, ४४३८३८ फैक्स - ४४३३१०

उदार जनता से अपील

'व्रजभूमि' के मध्य में स्थित भगवान श्रीकृष्ण की 'कर्मभूमि' परम पवित्र वृन्दाबन का श्री चैतन्य महाप्रभु ने उद्धार किया था और यह श्रीरामकृष्ण तथा उनके शिष्यों के विशेष श्रद्धा का केन्द्र था। यह तीर्थ इस १५१ बिस्तरों वाले धर्मार्थ अस्पताल को अपने सीने में धारण किये हुए है। महान् कर्मयोगी स्वामी विवेकानन्द के मर्मस्पर्शी आह्वान से प्रेरित होकर १९०७ ई. में एक होम्योपैथिक दवाखाने के रूप में इसका बीजारोपण हुआ था। इस साधारण-सी शुरुआत के बाद उसी वर्ष इसमे ४ बिस्तरों के साथ एलोपैथी विभाग आरम्भ किया गया, जो अब साधारण शल्य, नेत्र-चिकित्सा, नाक-कान-गला, दन्त, बालरोग, जच्चा-बच्चा, रोग-निदान, हृदयरोग, सामान्य औषधि, होम्योपैथी तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा के पूर्णाग विभागों में विकसित हो गया है और जाति, वर्ण, मत, पन्थ आदि के आधार पर बिना कोई भेदभाव किये बहुत बड़ी सख्या में तीर्थयात्रियों तथा आसपास के निवासियों की सेवा द्वारा एक महती आवश्यकता की पूर्ति कर रहा है।

यह सेवाश्रम बहिर्विभाग तथा अन्तर्विभाग के (अत्यन्त रियायती दर पर भुगतान करनेवाले २१ केबिनों के रोगियों को छोड़) सभी रोगियों को पूरी तौर से - यहाँ तक कि शल्यक्रिया, रक्त, भोजन तथा विभिन्न प्रकार के जाँचों की भी - मुफ्त चिकित्सकीय सेवा प्रदान करता है। हमारी चल-चिकित्सालय इकाई के द्वारा सुदूर स्थित गाँवों के रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की जाती है। गरीबों, कोढ़ से पीड़ित परिवारों, निर्धन विधवाओं तथा विद्यार्थियों के बीच भी सेवाश्रम की ओर से उपयोगी वस्तुओ और आर्थिक अनुदान का वितरण करके सामान्य राहत-कार्य किया जाता है। निर्धन बालिकाओं को मुफ्त नर्सिंग का प्रशिक्षण देने के लिए सेवाश्रम एक नर्सिंग स्कूल भी चलाता है, जो उत्तर प्रदेश शासन तथा भारतीय नर्सिंग कौंसिल द्वारा मान्यता प्राप्त है। प्रति वर्ष इसका नया सत्र १ सितम्बर से आरम्भ होता है और इसकी विवरणिका १ अप्रैल से ही सचिव के पास उपलब्ध रहती है।

हमारा यह केन्द्र अपने लोकहितकर सत्कर्म में, केन्द्रीय या प्रान्तीय शासन से कोई अनुदान लिए बिना ही केवल स्वैच्छिक दान के द्वारा ही निर्मित तथा परिचालित हो रहा है।

<u>हमारी भावी योजनाएँ तथा तात्कालिक आवश्यकताएँ</u> —

१. प्रसव-केन्द्र के ३० बिस्तरों वाले विभाग के निर्माण तथा यत्रों की लागत	७० लाख
२. प्रसव-केन्द्र के प्रत्येक बिस्तर के लिए एक लाख रुपयों की स्थायी निधि	३० लाख
३. अस्पताल के लिए स्वचालित कपड़े धुलाई की मशीन	३५ लाख
४. वर्तमान शल्य-चिकित्सा कक्ष तथा वार्डों का रूपान्तरण	३० लाख

आपसे हमारा निवेदन

उपरोक्त कार्यक्रमों के रूपायन हेतु हम आन्तरिकतापूर्वक उन सभी - उदार जनता, औद्योगिक प्रतिष्ठानों तथा धर्मार्थ ट्रस्टों से आर्थिक सहयोग के लिए अनुरोध करते हैं; जो श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के पवित्र आदर्शों से लगाव रखते हैं और इस देश के निर्धनों से प्रेम करते हैं। हम सेना तथा सरकार से सेवानिवृत्त चिकित्सकों से भी अनुरोध करते हैं कि वे अवैतनिक या वैतनिक रूप से हमारे साथ जुड़कर इस क्षेत्र के निर्धनों की सेवा में हमारी सहायता करें।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दावन को दिये जानेवाले दान आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं। चेक, ड्राफ्ट आदि "रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दाबन" के नाम से बनाये जा सकते हैं।

स्वामी सुप्रकाशानन्द
सचिव